भाषा–विज्ञान के विकास में संस्कृति का योगदान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
के
हिन्दी विभाग के आचार्य
परम पूज्य गुरुदेव
प्रो.रंगनाथ पाठक
के
चरण कमलों में हार्द
एवं सादर समर्पित

भाषा–विज्ञान के विकास में संस्कृति का योगदान

प्रकाश चन्द शर्मा

MPASVO
M. PUBLICATION

MPASVO
M.PUBLICATION

मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था ,बी 32/16 ए.-फ्लैट 2/1 गोपाल कुञ्ज नरिया,लंका वाराणसी

मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था की स्थापना का उ्देश्य विद्वानों द्वारा लिखित पुस्तकों,अप्रकाशित शोधों मौलिक कृतियों,कहानियों उपन्यासों,पाठ्यपुस्तकों,पाण्डुलिपियों का प्रकाशन,साथ ही शोध के नवीन बिन्दुओं का अध्ययन करना है। मनीषा प्रकाशन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका " आन्वीक्षिकी " का प्रकाशन किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत आप अपने शोध निबन्धों को ससन्दर्भ प्रकाशित करा सकते हैं।

Mpasvo India

अवनीश शुक्ला ,9/2बी-4,लिडिल रोड जार्ज टाउन,इलाहाबाद,उ.प्र.(भारत)
मो. 9450308530,9721959152
डॉ.मनीषा शुक्ला,सम्पादिका " आन्वीक्षिकी " मो. 9935784387
बी 32/16 ए.-फ्लैट 2/1 गोपाल कुञ्ज नरिया,लंका वाराणसी,उ.प्र. भारत 221005

कार्यालय : वाराणसी,जौनपुर, इलाहाबाद

MPASVO अर्थात् मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था। यह प्रकाशन एवं शोध के लिए स्थापित पंजीकृत,भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त स्ववित्तपोषित संस्था है। इसकी पंजीकरण पत्रावली संख्या V-34654,रजि.533/2007-2008 है।

© प्रकाश चन्द शर्मा
प्रथम संस्करण 2009
मूल्य-150/-मात्र

इस पुस्तक के अन्तर्गत सभी अधिकार लेखक के अधीन हैं। इस पुस्तक के किसी भी भाग को किसी भी रूप में प्रयोग करना,फोटोकॉपी करना अथवा किसी भी जानकारी को बिना सन्दर्भ दिये प्रयोग करना दण्डनीय होगा।

International Standard Book Number
ISBN-13 : 978-81-908511-0-7
ISBN-10 : 819085110-7

टंकण : एडोब पेजमेकर,ए.पी.एस.प्रियंका रोमन 14 /16.8,Times New Roman 12/14.4
द्वारा : महेश्वर शुक्ल,लंका वाराणसी
(9415614090,9721959152)
प्रकाशन : मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था
बी 32/16 ए.-फ्लैट 2/1 गोपाल कुञ्ज नरिया,लंका वाराणसी
सम्पर्क : मो. 9935784387

शुभाशंसा

मेरे मेधावी शिष्य श्री प्रकाश चन्द शर्मा साहित्य-साधना के क्षेत्र में अविराम आगे बढ़ते जा रहे हैं तथा नूतन कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं,यह मेरे लिए अतीव प्रसन्नता एवं गौरव की बात है। इनकी रचनाशीलता एवं शोध-दृष्टि निरन्तर प्रखर होती जा रही है। इनकी बहुआयामी रचनाओं को देखकर यह स्पष्ट आभास हो रहा है कि इनके व्यक्तित्व में एक सशक्त साहित्यकार विकसित हो रहा है। मुझे तो इनके कृतित्व में भी संभावनाओं का विराट क्षितिज फैलता हुआ दिखाई दे रहा है। इनके पास मौलिक चिन्तन है तथा इनमें अभिव्यक्ति की क्षमता भी है। एक अच्छे लेखक के साथ-साथ ये कुशल सम्पादक भी हैं।

भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति का योगदान श्री प्रकाश चन्द शर्मा द्वारा एम.फिल.उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध का परिमार्जित रूप है। संस्कृति एवं भाषा-विज्ञान-ये दोनों बहुत जटिल विषय हैं। इस पुस्तक में प्रकाश जी ने दोनों को समझने का सार्थक प्रयास किया है। इनकी यह पुस्तक इनकी प्रतिभा एवं श्रम,दोनों की द्योतक है। विषय-चयन एवं प्रतिपादन,दोनों में मौलिकता एवं सक्षमता स्पष्ट दिग्दर्शित हैं। पुस्तक की उपादेयता असंदिग्ध है।

मैं इनकी उत्तरोत्तर प्रगति की कामना करते हुए हार्दिक शुभकामनाएँ अर्पित करता हुआ अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

डॉ.रामकृष्ण शर्मा(डी.लिट्.)
पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग
महारानी श्री जया स्नातकोत्तर
महाविद्यालय,भरतपुर (राजस्थान)

आभार

इस लघु शोध प्रबन्ध के प्रकाशन के अवसर पर मैं अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। मैं सर्वप्रथम प्रखर शैक्षणिक प्रतिभा के धनी श्रद्धेय गुरुजी प्रो.रंगनाथ पाठक,हिन्दी विभाग,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ,जिनकी स्नेहपूर्ण छाया में मुझे यह शोध प्रबन्ध पुस्तक रूप में प्रकाशित कराने का अवसर मिल सका। तदुपरान्त मैं पूजनीय गुरुवर डॉ.रामकृष्ण शर्मा,हिन्दी विभाग, महारानी श्री जया महाविद्यालय,भरतपुर(राज.)के प्रति नत हूँ, जिन्होंने मुझे निरन्तर प्रोत्साहन दिया,साथ ही इस ग्रंथ में अपनी शुभाशंसा देकर इसे गौरवान्वित किया।

इसी क्रम में मैं अपनी निर्देशिका डॉ.उर्मिला शर्मा,हिन्दी विभाग,महारानी श्री जया महाविद्यालय,भरतपुर(राज.)के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ,जिनके कुशल निर्देशन से मेरा यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ। मेरी मातृवत डॉ.इला मिश्र, हिन्दी विभाग,महारानी श्री जया महाविद्यालय,भरतपुर(राज.)इस ग्रंथ की पूर्णता में अत्यन्त सहायक बनी रहीं,उनके प्रति आभारी हूँ। विपुल भाव व्यंजक एवं आकर्षक आवरण निर्माण के लिए मैं श्री रमेश चन्द वर्मा,रामेश्वरी देवी कन्या महाविद्यालय, भरतपुर को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। पिताजी श्री गोपाल प्रसाद शर्मा एवं माताजी श्रीमती चन्द्रवती शर्मा के आशीर्वाद से यह कार्य सहज रूप से सम्पन्न हो सका है। बिना पारिवारिक जनों के योगदान या सहायता के किसी भी कार्य का पूर्ण होना असम्भव है अत: मैं आभारी हूँ ताऊजी श्री ठाकुरलाल शर्मा,बड़े भाई श्री दिनेश कुमार,श्री रमेश चन्द,श्री महेश चन्द,श्री सुभाष चन्द,श्री मुकेश कुमार एवं सभी बच्चों के प्रति।

अन्त में मैं मनीषा प्रकाशन का हृदय से आभारी हूँ जिनके सहयोग से आज मेरा यह शोध प्रबन्ध पुस्तकाकार हो सका है। इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन की प्रेरणा मुझे डॉ.मनीषा शुक्ला ने ही दी। यदि इस पुस्तक में कहीं कोई त्रुटि हो तो सुधीजन मुझे क्षमा करेंगे उसको मैं आगे के संस्करणों में संशोधित करने हेतु प्रतिबद्ध हूँ।

श्रीरामनवमी,2009 प्रकाश चन्द शर्मा

काशी

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ संख्या
शुभाशंसा		**i**
आभार		**ii**
प्रस्तावना		**iii-ix**
प्रथम अध्याय	: भाषा की प्रमुख अवस्थाएँ तथा भूमियाँ	**1-16**
(क)	: प्राकृतिक भूमि	
(ख)	: शब्द-निर्माण	
(ग)	: बौद्धिक भूमि	
(घ)	: सांस्कृतिक भूमि	
(ङ)	: आध्यात्मिक भूमि	
द्वितीय अध्याय	: सांस्कृतिक आधार और भाषा का विकास	**17-25**
(क)	: भाषा के आरम्भिक रूप निर्माण में संस्कृति का योगदान	
(ख)	: भाषा की ध्वनियों के उच्चारण में संस्कृति का योगदान	
(ग)	: भाषा के अभ्युदय और विकास में संस्कृति का योगदान	
(घ)	: लिपि के विकास में संस्कृति का योगदान	
तृतीय अध्याय	: भाषा-विज्ञान संबंधी कतिपय जिज्ञासाएँ	**26-33**
(क)	: भाषा का उद्गम और सांस्कृतिक परिस्थितियों से संबंध	
(ख)	: मनुष्य की सामाजिकता और भाषा की उन्नति	
(ग)	: वर्ण-ध्वनियों से संस्कृति का संबंध	
(घ)	: शब्दों के विविध रूपों की रचना और संस्कृति	
चतुर्थ अध्याय	: भाषा का सामान्य स्वरूप और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	**34-49**
(क)	: भाषा की उत्पत्ति संबंधी बारह प्रचलित सिद्धान्त	

(ख) : भाषा के उद्भव का सांस्कृतिक सिद्धान्त
(ग) : भाषा के मानवीय रूप का अभ्युदय
(घ) : भाषा के विकास की दिशाएँ और संस्कृति
पंचम् अध्याय : भाषा, वर्ण और संस्कृति **50-64**
(क) : वर्ण-ध्वनियाँ और मनुष्य का अध्यवसाय
(ख) : वर्ण-ध्वनियों के भेद
(ग) : वर्णमाला और भाषा
(घ) : वर्णमाला, उच्चारण और लिपि
(ङ) : वर्ण, अर्थ, व्याकरण और तंत्र
षष्ठ अध्याय : भाषा, शब्द और संस्कृति **65-80**
(क) : शब्द की रचना विधियाँ
(ख) : शब्दों के भेद
(ग) : शब्दों का व्याकरण
(घ) : शब्दों का कलात्मक सौन्दर्य
(ङ) : शब्दों का सांस्कृतिक वैभव
(च) : शब्द-संचार
सप्तम् अध्याय : शब्दों का संस्कृतिपरक अध्ययन और विश्लेषण **81-88**
(क) : पद के रूप और पद की गति
(ख) : शब्दों का इतिहास और उनकी संस्कृति
संहरण :------ **89-99**
(क) : सांस्कृतिक वाक्य-विज्ञान
(ख) : सांस्कृतिक रूप-विज्ञान
(ग) : सांस्कृतिक अर्थ-विज्ञान
(घ) : भाषा की संस्कृति
सहायक ग्रंथ सूची एवं पत्र-पत्रिकाएँ **100-102**

प्रस्तावना

भाषा अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है। प्रकृति ने मानव को जितने वरदान दिये उनमें कण्ठ-ध्वनि बहुत बड़ा वरदान है। कण्ठ से जो नाद प्रस्फुटित होता है उसे ब्रह्मनाद भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जीव को ब्रह्म से जो शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं,उनमें नाद भी एक है किन्तु यह नाद उस समय तक फलीभूत और कल्याणकारी नहीं हो सकता,जब तक इसके साथ भाषा नहीं जुड़ती। भाषा इस नाद को सार्थक और सम्प्रेषणीय बनाने वाली एक कृत्रिम व्यवस्था है। नाद तो निसर्ग प्रदत्त है किन्तु भाषा मानव द्वारा निर्मित है। भाषा की उत्पत्ति से पूर्व में मानव अपने मनोभावों को कुछ अस्पष्ट इंगितों से ही प्रेषित करता था। वे इंगित कुछ समझ में आते थे,कुछ नहीं आते थे और कुछ तो निरर्थक ही रह जाते थे। इस प्रकार मनोभाव पूर्णत: सम्प्रेषित नहीं हो पाते थे किन्तु जब से भाषा की उत्पत्ति हुई है,मानव अपने मनोभावों एवं विचारों को बड़ी आसानी से और शत प्रतिशत शुद्धता तथा सफलता के साथ संप्रेषित कर देता है।

भाषा के दो रूप विकसित हुए हैं,जिनमें एक मौखिक रूप है तथा दूसरा लिखित रूप है। मौखिक रूप हजारों वर्षों तक अनवरत रहा तथा धीरे-धीरे मानव ने लिपियों का विकास किया। इन लिपियों के माध्यम से भाषा का लिखित रूप सामने आया। प्रारम्भिक अवस्था में लेखन सामग्री का अभाव था इसलिए यह लिखित रूप भी बहुत सीमित था। भित्तियों पर,प्रस्तर-खण्डों पर अथवा वृक्षों के तनों पर लिपिबद्ध करके सन्देश प्रेषित-प्रतिप्रेषित किये जाते थे। उस आदिम अवस्था में आवश्यकताएँ कम थीं,विचार भी बहुत कम थे केवल मूल संवेदनाओं से ही जीवन चलता था अत: उस समय भित्ति,गुफा,शिला,भोजपत्र,ताम्रपत्र आदि पर अंकित लिपि-संदेशों से आंशिक आदान-प्रदान हो जाता था किन्तु जैसे-जैसे मानव की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं,उसका चिन्तन-मनन विस्तीर्ण एवं गम्भीर होता गया,विचार अधिक आने लगे तो **आवश्यकता आविष्कार की जननी है,** इस सिद्धान्त के द्वारा लेखन सामग्री का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे लिपियों का भी विकास हुआ है फलस्वरूप भाषा सम्प्रेषण का प्रबलतम साधन बन गई। इसके मौखिक रूप और लिखित रूप दोनों ही धीरे-धीरे विकास के सोपान दर

सोपान पार करते गये और भाषा के क्षेत्र में नई-नई क्रान्तियाँ आईं। भाषा यद्यपि जनसाधारण के माध्यम से ही विकसित होती है। इसका प्रवाह नदी के प्रवाह के समान स्वचालित होता है। विद्वान भाषा का निर्माण नहीं करते अपितु जनसाधारण की आवश्यकताओं के अनुरूप भाषा स्वत: विकसित होती जाती है किन्तु विद्वान नियम निर्धारित करते हैं। इन नियमों के सुव्यवस्थित संकलित स्वरूप को व्याकरण कहा गया। भाषा में एकरूपता और अर्थ की स्पष्टता लाने के लिए व्याकरण उपयोगी सिद्ध हुआ किन्तु व्याकरण भाषा को बंधे हुए तालाब के समान ही बना सका उसे मुक्त गति प्रदान करने के लिए भाषा-विज्ञान सामने आया। व्याकरण एक ओर जहाँ परम्परावादी सिद्ध हुआ,वहीं भाषा-विज्ञान का दृष्टिकोण प्रगतिशील दिखाई दिया।

भाषा जीवन की प्रत्येक परिस्थिति से जुड़ती चली गई और यह सुचारु जीवन जीने के लिए अपरिहार्य साधन बन गई। धीरे-धीरे साहित्य का जन्म हुआ, जिसमें गद्य-पद्य दोनों ही विधाएँ विकसित हुईं। इनमें भी अनेकानेक विधाएँ विकसित हुईं। वर्तमान समय तक आते-आते भाषा जीवन का ही पर्यायवाची बन चुकी है। आज भाषा के अभाव में जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। संसार के सभी कार्य भाषा के द्वारा ही संचालित हो रहे हैं। भाषा संस्कृति का भी अभिन्न और अपरिहार्य अंग बन चुकी है। यही कारण है कि अब धीरे-धीरे भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनों का महत्व बढ़ता चला जा रहा है। मानव-संस्कृति के विकास में भाषा सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध हो रही है। संस्कृति भाषा पर निर्भर है और भाषा संस्कृति पर निर्भर। इस तरह दोनों की पारस्परिकता उपादेयता के चरम बिन्दु तक पहुँच गई है।

भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति का योगदान भाषा के अध्ययन के एक मौलिक दृष्टिकोण की भूमिका है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भाषाओं का विवेचन अधिक प्रचलित नहीं है। भाषा-विज्ञान का यह पक्ष उपेक्षित रहा है इसलिए इस विषय पर मैंने शोध प्रबन्ध लिखने का लघु प्रयास किया है। यह भाषा-विज्ञान की एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा। भाषा के अध्ययन की जिस दिशा व दृष्टि को इसमें अपनाया गया है उसके अध्ययन से भाषा की उत्पत्ति, भाषा-संचार,भाषा-परिवार,आदिम भारोपीय भाषाएँ,भारोपीय भाषा परिवार में संस्कृत की स्थिति संबंधी कई मान्यताएँ कम्पित हो जायेंगी। इन विषयों में सांस्कृतिक निर्देशों के अनुसार नवीन स्थापनाओं को आदर देना होगा।

प्रचलित भाषा-विज्ञान का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। विज्ञान की प्रणाली आगमनात्मक है। अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली माननीय है किन्तु उसके निर्णयों को निश्चित मानना अवैज्ञानिक है। प्राकृतिक क्षेत्र में ये निर्णय अधिक निश्चित हो सकते हैं किंतु सामाजिक क्षेत्र में इनकी निश्चितता कम है। भाषा का ध्वन्यात्मक आधार प्राकृतिक है। भाषा सामाजिक सम्प्रेषण का माध्यम है किन्तु भाषा एक सांस्कृतिक उपलब्धि है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों की विभिन्नता से भाषा की सांस्कृतिकता प्रमाणित होती है। ध्वनियों व अन्य तथ्यों का संग्रह भाषा के अध्ययन में आवश्यक होगा। इस दृष्टि से भाषा-शास्त्र को भी वैज्ञानिक आगमनात्मक प्रणाली का अवलम्ब लेना होगा।

किन्तु आगमन ही भाषा-शास्त्र का अंत नहीं है। भाषा के सांस्कृतिक होने से भाषा संबंधी महत्वपूर्ण व अन्तिम निर्णयों में सांस्कृतिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें सांस्कृतिक तथा वैभव के आधार पर भाषा-शास्त्र के प्रश्नों का निर्णय किया गया है। संस्कृति के निर्माण,संरक्षण,अनुग्रहण की कठिनता के आधार पर भाषाओं की मौलिक सम्पत्ति व जन्मभूमि का निर्णय किया गया है। आगमनात्मक वैज्ञानिक प्रणाली को उपयोगी मानते हुए भी मैंने भाषाओं के संबंध में निर्णयों के लिए सांस्कृतिक तर्क प्रणाली को अधिक विश्वसनीय माना है।

भाषा जैसी सांस्कृतिक उपलब्धि के अध्ययन में ये प्रणाली महत्वपूर्ण योग दे सकेगी। सांस्कृतिक तर्क संगति भाषाओं के आन्तरिक तत्वों की संगति है जबकि ध्वनि के आधार बाह्य हैं। इसमें वर्ण-विधान,शब्द-निर्मिति,शब्द-संस्कार, शब्द-संचार आदि के प्रसंग में सांस्कृतिक तर्कों का प्रयोग कर कुछ नवीन निष्कर्ष प्राप्त किये हैं। संस्कृत भाषा के विन्यास की अपवादरूप वर्णात्मकता अन्य भाषाओं की अवर्णात्मकता व शाब्दिकता,संस्कृत वर्णमाला की वैज्ञानिकता व सांस्कृतिकता,अन्य भाषाओं की वर्णमाला की अवैज्ञानिकता एवं अनियमितता, भारोपीय भाषाओं के कुछ समान शब्दों की संस्कृत भाषा में अधिक सांस्कृतिक समृद्धि आदि उल्लेखनीय निष्कर्ष हैं। इन निष्कर्षों से भाषाओं के उद्भव ,जन्मस्थान, पारिवारिक संबंध आदि की दिशा में कुछ नवीन स्थापनाओं की संभावना बढ़ जाती है।

विभिन्न भाषाओं में समान प्रतीत होने वाली ध्वनियों का रूप और भाषा में उनकी स्थिति एक समान नहीं है। यह भिन्नता सांस्कृतिक है। इसे

मैंने अधिक महत्व दिया है। ध्वनियों की समानता को प्राकृतिक होने से गौण माना है। संस्कृति विभिन्न समाजों की विशेष उपलब्धि है। विशेषता के कारण विभिन्नता संस्कृति का लक्षण है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मैंने सामान्य वर्ण-ध्वनि व वाक्य की अपेक्षा शब्दों के सांस्कृतिक अध्ययन को अधिक महत्व दिया है। शब्दों की विपुलता,विविधता में मनुष्य का भाषामुखी सांस्कृतिक अध्यवसाय अधिक प्रकट हुआ है। शब्द भाषा-इतिहास के सर्वाधिक विश्वसनीय साक्षी हैं। उनमें ऐतिहासिक व सांस्कृतिक संस्कार इतने सूक्ष्म व सुदृढ़ रूप में समवेत रहते हैं कि उन्हें अन्यथा नहीं कर सकते।

भाषाओं का निर्माण व विकास मानवीय संस्कृति पर आधारित है अत: इसमें शब्दों व भाषाओं के सांस्कृतिक अध्ययन को अधिक महत्व देकर उनके सांस्कृतिक सूत्रों के सहारे शब्दों की मूल जन्मभूमि एवं भाषाओं के पारिवारिक संबंधों के बारे में निर्णय लेने का प्रयत्न किया गया है। सांस्कृतिक समृद्धि और सांस्कृतिक तर्क-संगति पर आधारित निर्णयों के अनुसार संस्कृत भारत की मौलिक भाषा है तथा भाषा-संचार की दिशा पश्चिम से भारत की ओर नहीं वरन् भारत से पश्चिम की ओर है। भारत को संस्कृत भाषा का मूल उद्गम स्थान एवं इन्द्र,मातृ,भू, पद आदि समान शब्दों को संस्कृत की मौलिक सम्पत्ति माना गया है।

वाक्य-विन्यास और क्रिया-विधान के संबंध में मैंने हिन्दी के क्रिया-विधान का संबंध सूत्र उत्तर भारतीय पुरुष समाज की निष्क्रियता में खोजा है जो एक नवीन मत है। भाषा की संस्कृति की बात भी नवीन है कुछ दार्शनिक होकर भी भाषा के विवेचन में इनका महत्व कम नहीं है। ये भाषा के स्वरूप को निर्धारित करती हैं। भाषाओं का परस्पर संबंध इस स्वरूप से शासित होता है अत: भाषा की संस्कृति व आत्मा की भूमिका में भाषा-शास्त्र के विविध विषयों का अध्ययन उपयोगी है। चीनी भाषा की रूपात्मकता,सांस्कृतिकता एवं यूरोपीय भाषाओं की ध्वन्यात्मक व वाक्य विन्यासगत सांस्कृतिकता की सराहना और वर्ण-विवेक के सन्दर्भ में इन भाषाओं की आलोचना सांस्कृतिक अनुसन्धान की अनिवार्यता है। संस्कृत भाषा के वर्ण-विधान,वर्णमाला,शब्द-निर्मिति, शब्द-संस्कार में संस्कृत की समृद्ध सांस्कृतिकता का समर्थन किया है। हिन्दी भाषा की क्रिया के प्रसंग में हीनता का प्रतिपादन राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध होकर भी निष्कर्षरूप में मान्य है। भारतीय और पश्चिमी भाषाओं के संबंध में अनुकूल

तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार के मतों का प्रतिपादन विवेचन की निष्पक्षता का साक्षी है।

भाषा मानवीय संस्कृति का एक अपार सागर है। भाषा-विज्ञान के समुचित विवेचन के लिए विभिन्न भाषाओं का सम्यक ज्ञान आवश्यक है,भाषाओं के विकास में संस्कृति का योगदान एवं भाषाओं की सांस्कृतिक विशेषताओं की उपेक्षा एक शोचनीय प्रमाद है। इस प्रमाद से भाषा-विज्ञान में अनेक भ्रान्त मत प्रचलित हुए हैं। भाषाओं के विकास में सांस्कृतिक पक्षों की ओर समुचित ध्यान देकर इस प्रमाद व उत्पन्न भ्रान्तियों को दूर किया जा सकता है। इसी प्रेरणा से मैंने भाषा-विज्ञान की एक उपेक्षित दिशा को रेखांकित करने का लघु प्रयास किया है। भाषा के समान एक विकासशील सामाजिक परम्परा के रूप में ही भाषा-विज्ञान भी सफल हो सकता है।

वैज्ञानिक आगमन विधि से समर्थित सांस्कृतिक तर्क-प्रणाली के अनुसार भाषा-विज्ञान का अध्ययन भाषा के गहन तत्वों का अनुसंधान कर नवीन दिशाओं का उद्‌घाटन करेगा। सांस्कृतिक तर्क-प्रणाली आदिम मानव समाज में भाषा के उद्भव एवं अभ्युदय की उन सामाजिक एवं आत्मिक परिस्थितियों का संकेत करेगी जिनमें अद्वैतमय समात्मभाव की प्रेरणा से परस्पर अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण के प्रसंग में विकसित मस्तिष्क और उच्चारण-संस्थानों के सहयोग से शब्दातीत,परा वाक् का मुखर वाणी में स्फोट हुआ। यह लघु शोध भाषा के उद्भव के अनेक अमान्य सिद्धान्तों के स्थान पर भाषा के अभ्युदय के एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्त की संगत स्थापना कर सकेगा।

भाषा के उद्भव के अलावा यह ग्रंथ भाषा के अन्य क्षेत्रों में भी सांस्कृतिक सिद्धान्तों की स्थापना द्वारा भाषा-विज्ञान की कुछ अन्य समस्याओं का भी अधिक संगत हल प्रस्तुत कर सकेगा। यह वर्ण-विवेक,वर्णानुकूल लिपि का आविष्कार,शब्द-रूपों का निर्माण,व्याकरण व्यवस्था,शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ,शब्द-संचार, शब्दानुग्रहण, विभिन्न लिपियों की जन्मभूमि,समान शब्दों की मूल जन्मभूमि,भाषा-परिवार आदि के संबंध में संदिग्ध सिद्धान्तों के स्थान पर इन प्रसंगों की सांस्कृतिक भूमिका को प्रकाशित कर इनके संबंध में अधिक संगत एवं मान्य स्थापनाएँ प्रस्तुत कर सकेगा। ये मान्यताएँ अनेक प्रचलित मान्यताओं से भिन्न होंगी किन्तु ये अधिक संगत व स्वीकार्य होंगी क्योंकि ये सांस्कृतिक तर्क-प्रणाली के द्वारा निष्पन्न और समर्थित होंगी।

यह ग्रंथ वर्ण-विवेक,वर्णमाला और लिपि के आविष्कार की सांस्कृतिक भूमिका का उद्‌घाटन कर इसके संबंध में एक गम्भीर किन्तु संगत सिद्धान्त प्रतिपादित करेगा। यह सिद्धान्त नागरी लिपि और संस्कृत भाषा की भारतीयता के अनुरूप होने के कारण प्रचलित मान्यता के विपरीत हो सकता है। यह भविष्य के भाषा-विज्ञान को अध्ययन की एक नई तथा नवीन संभावनाओं से परिपूर्ण दिशा प्रदान करेगा।

शब्द भाषा के कोश की मुद्राएँ हैं। उनका आरम्भिक उदय तो आकस्मिक संयोग तथा रूढ़िमूलक परम्परा के द्वारा हुआ होगा किन्तु आगे चलकर शब्दमूलों से विविध अर्थ-भंगिमाओं के वाचक शब्दों के निर्माण की व्यवस्था बौद्धिक संकल्प द्वारा हुई होगी अत: इसमें संस्कृति का योगदान है। संस्कृत के विशेष सन्दर्भ में यह शोध प्रबन्ध शब्दों के निर्माण की सांस्कृतिक सरणि का अनुसंधान कर सांस्कृतिक शब्द कुल की रीति का विवरण करेगा। इसी क्षेत्र में अनेक शब्दों की निर्मिति में समाहित सांस्कृतिक सन्दर्भों के सूत्रों का अनुसरण कर यह शोध प्रबन्ध विभिन्न भाषाओं में मिलने वाले समान शब्दों की मौलिक जन्मभूमि का निर्णय करेगा। समान शब्दों के सन्दर्भ में यह लघु शोध शब्द-संचार,शब्दानुग्रहण की सांस्कृतिक सीमाओं का निर्धारण करेगा। शब्द-संचार एवं शब्दानुग्रहण की भूमिका पर समान शब्दों की मौलिक जन्मभूमि का निर्णय अधिक संगत प्रतीत होगा। इसकी तर्कनाओं के आधार पर वर्णमाला,नागरी लिपि तथा अनेक समान पद,जो संस्कृत के लम्बे मार्ग के द्वारा आदिम भारोपीय भाषाओं से आगत माने जाते हैं,संस्कृत भाषा की मौलिक एवं औरस विभूति सिद्ध होंगे। संस्कृत समस्त भारोपीय भाषाओं की जननी है,यह धारणा अधिक बल और समर्थन प्राप्त करेगी। संस्कृत भाषाओं की जननी न भी हो किन्तु सांस्कृतिक तर्क-प्रणाली के द्वारा वह पश्चिमी भाषाओं की बड़ी और प्रभावशाली सहेली अवश्य सिद्ध होगी। यह भाषा अभ्युदय के संदर्भ में संकल्प एवं स्वातंत्र्य को मुख्य मानती है।

वेदों की रचना,वैदिक धर्म-संस्कृति तथा आर्यों के आदि निवास की समस्याओं पर इसके तर्कों से नवीन प्रकाश पड़ेगा। इस शोध प्रबन्ध के निर्णय भारतीय गौरव और भारतीय राष्ट्रीयता के अनुकूल होंगे। यह एक निष्पक्ष तर्क-प्रणाली का प्रासंगिक परिणाम होगा। शायद ये निर्णय संस्कृत के गौरव को कम करने वाले निर्णयों से अधिक संगत एवं मान्य होंगे। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति का योगदान भाषा-विज्ञान के उपेक्षित पक्षों को उजागर

करेगा तथा उसकी अनेक भ्रान्तियों का निवारण कर भाषा-विज्ञान के अध्ययन को सांस्कृतिक महत्व की नवीन दिशाओं में प्रेरित करेगा। यह शोध प्रबन्ध संस्कृति के लक्षणों के अनुसार भाषा तथा भाषाओं का अध्ययन है।

अध्याय-1

भाषा की प्रमुख अवस्थाएँ तथा भूमियाँ

भाषा मनुष्य का अमूल्य कोष है। भाषा की अद्भुत विभूति एक ओर मानवीय क्षमता की वर्धमान उपलब्धि है,तथा दूसरी ओर वह मनुष्य समाज की उन्नति के विविध अध्यवसायों की प्रेरणा एवं उनका अवलम्ब है। भाषा के सूत्र से ही मनुष्य-समाज का विकासशील संगठन हुआ है। पशुओं के समान विशृंखल आदिम मानव भाषा के सूक्ष्म एवं सुदृढ़ सूत्र के द्वारा ही परिवार,कुटुम्ब,कबीला, जाति आदि की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्थाओं में संगठित होकर सभ्यता एवं संस्कृति के बहुमुखी विकास की दिशाओं में अग्रसर हुए हैं। जीवन के व्यवहार और भाव के साथ-साथ समाज के संगठन एवं विकास की सवाक् शक्ति भाषा है। " भाषा के इसी मौलिक एवं गहन महत्व के कारण संस्कृत भाषा के प्रयोग में **भाषा** शब्द **परिभाषा** का पर्याय बन गया है। "[1] भाषा सचमुच मनुष्य की परिभाषा तथा जीवन के समस्त भावों,व्यवहारों, कर्मों, पदार्थों आदि के रूप में निर्धारण की मौलिक मानवीय प्रणाली है। शब्द-तत्व के वर्धमान ब्रह्मरूप से ही यह अनन्त पदार्थ-जगत विवर्तित होता है,व्याकरण-दर्शन का यह सिद्धान्त चिन्तन के उच्चतम शिखरों से भाषा की परम महिमा का निर्घोष करता है।

व्यवहारों के मार्ग से संबंध,भाव,विचार आदि के सोपानों द्वारा साहित्य, दर्शन, संस्कृति और अध्यात्म के प्रसाद-खण्डों तक आरोहण करने वाली भाषा का मूल आधार प्राकृतिक ध्वनि है जिसका सहज रूप पशुओं के शब्द एवं घोष में मिलता है। विकासवाद के अनुसार पशुओं के अंग-विन्यास और जीवन-क्रम में भी विकास हुआ है किन्तु मनुष्यों की तुलना में वह विकास अत्यन्त मंद और अल्प है चाहे पशुओं की एक उपजाति से मनुष्य जाति का विकास हुआ हो किन्तु पिछले हजारों वर्षों के इतिहास में मानव समाज का विकास पशुओं के जीवन की तुलना में मात्रा एवं गुण की दृष्टि से चमत्कारपूर्ण है। पिछले हजारों वर्षों में पशुओं के जीवन क्रम में कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ है किन्तु मनुष्य के समाज तथा उसके जीवन-क्रम में सभ्यता एवं संस्कृति के रूप में जो विकास हुआ,वह आश्चर्यजनक है। इस विकास के सूत्र मनुष्य के शारीरिक विन्यास,उच्चारण-संस्थानों की सूक्ष्मता, मस्तिष्क-पदार्थ की अधिकता,बौद्धिक-क्षमता,भाव-विपुलता आदि विशेषताओं में निहित हैं जो मनुष्य को पशुओं से श्रेष्ठ बनाती हैं।

इन क्षमताओं और विशेषताओं के द्वारा ही मनुष्य की भाषा अथवा भाषाओं का विभिन्न भूमियों तथा अवस्थाओं में विकास हुआ है। जिन भूमियों या अवस्थाओं में मनुष्य की भाषा का विकास हुआ है उनकी पाँच कोटियों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। इन भूमियों या अवस्थाओं को प्राकृतिक,शब्द-निर्माण, बौद्धिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भूमियों के रूप में विविक्त करके भाषा के विकास के स्तरों को रेखांकित किया जा सकता है। भाषा-विकास के इसी विवेचन के क्रम में सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भाषा के अध्ययन का महत्व भी स्पष्ट होगा। भाषा-विकास के ये स्तर विश्लेषण की दृष्टि से ही विविक्त कहे जा सकते हैं किन्तु वास्तव में ये एक दूसरे में समाविष्ट एवं संश्लिष्ट हैं। मनुष्य के जीवन-क्रम के अन्य रूपों की भाँति भाषा भी एक जटिल व्यवस्था है जिसमें अनेक प्रेरणाएँ और विविध स्तर समाहित होते हैं अत: भाषा की विभिन्न भूमियों का अध्ययन विविक्त और संश्लिष्ट दोनों ही रूपों में अपेक्षित है।

(क) प्राकृतिक भूमि

भाषा की पाँच अवस्थाओं या भूमियों में सर्वप्रथम भूमि प्राकृतिक है। प्राकृतिक भूमि पर भाषा एक सहज स्वाभाविक और नैसर्गिक धर्म है। प्राकृतिक ध्वनि अथवा शब्द भाषा का मूल रूप है। यह प्राकृतिक ध्वनि जड़ पदार्थों के संघर्षण से भी उत्पन्न होती है। यद्यपि इस रूप में इसे भाषा मानने में कठिनाई हो सकती है। पावस की नदी का प्रवाह घर-घर शब्द करता है। निर्झर स्रोत कलकल ध्वनि करते हैं। बादलों के संघर्ष से गर्जन का घनघोर शब्द होता है। कवियों को इन प्राकृतिक ध्वनियों में भावों के संकेत सुनाई देते हैं किन्तु भाषा-शास्त्री इसे आलंकारिक आरोपण कहेंगे। वाद्य-यंत्रों के विनोद के रूप में जड़-पिण्डों के घर्षण से उत्पन्न होने वाली ध्वनि भी भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर सौन्दर्य से मण्डित संगीत के पद की अधिकारिणी बन गई है किन्तु यह ध्वनि जड़ तथा प्राकृतिक नहीं है क्योंकि मनुष्य के कलात्मक उद्योग तथा उसके भावयोग से ही इसे भावभूमि के स्पर्श की क्षमता मिलती है।

भाषा सम्प्रेषण का माध्यम है। जीवों के परस्पर व्यवहार और सम्प्रेषण की अपेक्षाओं के सन्दर्भ में ही भाषा सार्थक बनती है। अर्थ,भाव और प्रयोजन की संवाहिका होने पर ही **भाषा** की संज्ञा अर्थवती होती है। जड़ के साथ जीव के सम्बन्ध में पारस्परिक व्यवहार और सम्प्रेषण का प्रसंग नहीं बनता अत: प्राकृतिक ध्वनि के रूप में भी भाषा का उदय जड़-पदार्थों के घर्षण से उत्पाद्य

ध्वनि में नहीं होता। ऐसी ध्वनि भी मानवीय सम्प्रेषण के सन्दर्भ में भाषा की सीमा में आ सकती है। आदिम समाज में ऐसी ध्वनियाँ मानवीय सन्देश व संप्रेषण का अवलम्ब रही होंगी। सभ्य समाज में भी इसका उपयोग होता रहा है। " मध्यकाल के तूर्य और आधुनिक काल के घण्टायंत्र इसी ध्वनि के स्वीकृत रूप हैं। "[2]

फिर भी सामान्य रूप से जीवों के उच्चारण संस्थानों से उत्पन्न तथा परस्परिक संप्रेषण के लिए प्रयुक्त ध्वनियों की व्यवस्था को ही **भाषा** की संज्ञा दी जाती है। जहाँ जड़-पिण्डों से उत्पन्न ध्वनियों का प्रयोग संप्रेषण के लिए होता है वहां इन ध्वनियों के उत्पादन में मनुष्य का कर्तृत्व रहता है और संप्रेषण का संदर्भ एवं प्रयोजन पारस्परिकता के सूत्र में अनेक जीवों को बाँधता है। प्रकृति ने उच्चारण-संस्थान के रूप में ध्वनि-उत्पादन का एक सूक्ष्म और सजीव यंत्र मनुष्य को दिया है,जिसके द्वारा ऐसी विविध ध्वनियों की रचना मनुष्य करता है कि इनकी तुलना जड़-पिण्डों के घर्षण से उत्पन्न ध्वनियाँ नहीं कर सकती हैं। उदाहरणार्थ जिन स्वरों और व्यंजनों की रचना मनुष्य के मुख से हुई है उनका उत्पादन जड़-यंत्रों से नहीं हो सकता। वाद्य संगीत का स्वर ध्वनि का एकरूप है। वह **भाषा** के **स्वर** के समान नहीं है। व्यंजन ध्वनि वाद्य संगीत में भी संभव नहीं है। वाद्य-संगीत केवल स्वरों की लय से निर्मित होता है।

मनुष्य की मुखर भाषा की ध्वनियाँ मुख में स्थित उच्चारण-संस्थानों के प्राकृतिक अधिष्ठान से ही उत्पन्न होती हैं,इस दृष्टि से वे मूलत: प्राकृतिक हैं किन्तु ये जड़ पदार्थों से उत्पाद्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और समर्थ हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण ध्वनियों की सम्पन्न और विकासशील भाषाओं का अभ्युदय हुआ। वैज्ञानिक दृष्टि से ये ध्वनियाँ प्राकृतिक हैं। जड़ ध्वनियों के समान इनका विश्लेषण किया जा सकता है किन्तु इस विश्लेषण के द्वारा इनका सम्पूर्ण रहस्य उद्घाटित नहीं किया जा सकता। इन ध्वनियों के विशेष रूपों, इनकी विशेष भंगिमाओं तथा इनकी भाषा विधायक सामर्थ्य का निरूपण वैज्ञानिक तत्व-विश्लेषण के रूप में नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के विकास क्रम में इन ध्वनियों का स्फोट पूर्णत: प्राकृतिक भूमि पर न होकर बौद्धिक क्षमता,सांस्कृतिक आकांक्षा और आध्यात्मिक प्रेरणा के उच्चतर क्षितिजों पर हुआ है। इसी कारण भाषा की दिशा में मनुष्य का अध्यवसाय जड़

ध्वनियों से ही नहीं पशु-ध्वनियों से भी बहुत भिन्न तथा उनकी तुलना में बहुत अधिक विकसित है। मनुष्य और पशुओं की ध्वनियों में इतनी समानता है कि दोनों ही जीव-शरीर में स्थित मुखर-संस्थानों से जीव-प्रयत्न के द्वारा उत्पादित होती हैं तथा दोनों का उपयोग अर्थ या प्रयोजन की अभिव्यक्ति के लिए होता है। इस दृष्टि से पशुओं की ध्वनियाँ भी जड़ ध्वनियों से भिन्न हैं।

दूसरी ओर मनुष्यों की ध्वनियों में अनेक विशेषताएँ होती हैं जो पशुओं की ध्वनियों में नहीं होतीं। पशुओं की ध्वनियों की तुलना में मनुष्यों की भाषा की ध्वनियाँ अधिक सूक्ष्म,विविक्त,विशिष्ट और समर्थ होती हैं। इन्हीं विशेषताओं द्वारा मनुष्यों की भाषा समृद्ध व्यवहार,सम्पन्न संस्कृति एवं साहित्य का माध्यम बन सकी। इन विशेषताओं का कारण मनुष्य का मुख तथा उच्चारण-संस्थान के विन्यास की विशेषताओं को माना जा सकता है। यद्यपि इन विशेषताओं को सफल बनाने में मनुष्य का मस्तिष्क उसके द्वारा प्रेरित अधिक समर्थ बुद्धि एवं आध्यात्मिकता का गम्भीर योग है। इस योग के कारण ही प्राकृतिक जड़ ध्वनियों और पशु ध्वनियों से मौलिक समानता रखने वाली मनुष्य ध्वनियों के प्राकृतिक आधार से सम्पन्न साहित्य तथा समृद्ध संस्कृति की संवाहक अत्यन्त समर्थ भाषा का विकास हुआ,जो अपने विकास के साथ-साथ जीवन,संस्कृति,सभ्यता,साहित्य आदि के उत्तरोत्तर विकास को प्रेरित करती है।

भाषा-विज्ञान में भाषाओं के रूप की विधायक मूल ध्वनियों पर बहुत बल दिया जाता है। ध्वनि-विज्ञान,भाषा-विज्ञान का ऐसा विस्तृत उपक्रम है कि भाषा-विज्ञान का इससे आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। ध्वनि-विज्ञान में ध्वनियों की उन सांस्कृतिक विशेषताओं को महत्व नहीं दिया जाता जो विभिन्न भाषाओं में विशेषत: संस्कृत में पाई जाती हैं। सभी भाषाओं की मूल-ध्वनियों को अभिन्न मानकर भाषाओं के ध्वनिभेदों एवं ध्वनि-विकारों का विवेचन किया जाता है। ये सत्य है कि वर्णों की मूल ध्वनियाँ मूलत: प्राकृतिक हैं,जिनका उदय मुख के उच्चारण-संस्थान से होता है जो सामान्यत: सभी देशों में समान रूप से मिलते हैं। ध्वनियों की समानता उनकी प्राकृतिकता का संकेत करती है। समानता और समान्यता प्रकृति का ही लक्षण है। प्रकृति के रूप और नियम सर्वत्र समान होते हैं किन्तु मूलत: प्राकृतिक होते हुए भी वर्ण-ध्वनियों के क्रम,उनकी भंगिमाएँ आदि विविध भाषाओं में विविध रूपों में मिलती हैं। ध्वनियों के इन रूपों में अन्तर सांस्कृतिक प्रभावों के कारण होता है जो प्राकृतिक नहीं वरन् मनुष्य के संकल्प

से सम्पन्न होते हैं। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भाषाओं का अध्ययन करने के लिए ध्वनियों के इन सांस्कृतिक संस्कारों का विचार करना होगा।

अत: वर्ण-ध्वनियाँ भाषा का अंशत: प्राकृतिक आधार हैं,यद्यपि वे पूर्णत: प्राकृतिक नहीं हैं। वर्ण-ध्वनियों के प्राकृतिक आधार पर भाषा का भवन निर्मित होता है। वर्णों के संयोग से शब्द एवं शब्दों की संगति से वाक्य बनते हैं। इस प्रकार वर्ण-ध्वनियों से निर्मित शब्दों एवं वाक्यों से भाषा का भण्डार सम्पन्न होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से वर्ण भाषा की मूल इकाई हैं किन्तु व्यवहार की दृष्टि से शब्दों को भाषा की मूल इकाई मानना होगा। यद्यपि तात्पर्य एवं प्रयोजन की दृष्टि से भाषा की मूल इकाई वाक्य हैं। बच्चों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में वाक्यों का अभिप्राय निहित रहता है।

वर्ण-ध्वनियों के उद्गम और उनसे शब्दों के निर्माण के संबंध में भाषा-विज्ञान में अनेक मत प्रचलित हैं। ये सिद्धान्त पशु-ध्वनियों के अनुकरण से लेकर दैवी-प्रेरणा के सिद्धान्त तक मिलते हैं। शब्द-निर्माण के सम्बन्ध में इतने मतभेद नहीं हैं। सामान्यत: आकस्मिक संयोग को शब्द-निर्माण का कारण माना जाता है। काल-क्रम से व्यवहार की परम्परा बनकर शब्द अपने अर्थों में रूढ़ हो गये। वर्ण-ध्वनियों का मूल स्रोत प्राकृतिक है अत: प्रकृति-धर्म के अनुकूल विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों में बहुत कुछ समानता है किन्तु जिन आकस्मिक संयोगों से वर्ण-ध्वनियों के योग से शब्दों का निर्माण होता है उनका ऐसा कोई प्राकृतिक आधार नहीं है जो शब्दों में वर्णों के क्रम आदि का नियमन करे। ये संयोग आकस्मिक हैं अथवा विभिन्न देशों के मनुष्यों के स्वतंत्र संकल्पों द्वारा निर्मित हैं। संकल्प की स्वतंत्रता के कारण समान पदार्थों,भावों और क्रियाओं के लिए विभिन्न देशों में विभिन्न शब्दों का निर्माण और प्रचलन हुआ।

(ख) शब्द-निर्माण

व्यवहार के प्रसंगों और उसकी आकांक्षाओं से शब्दों का निर्माण एवं प्रचलन भाषा के विकास की द्वितीय भूमि है। वर्ण-ध्वनियों के अभ्युदय को भाषा के वैज्ञानिक अध्ययनों में भाषा की प्रथम भूमि माना जाता है। वर्ण-ध्वनियों के स्वरूप, विभिन्न भाषाओं में इनके परिवर्तन तथा ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से शब्दों का विचार आदि भाषा-विज्ञान के मुख्य विषय हैं। ध्वनि-विज्ञान के विवेचनों में वर्ण-ध्वनियों की प्राकृतिकता एवं समानता का ही अनुरोध अधिक है। विभिन्न भाषाओं में मिलने वाले वर्ण-ध्वनियों के सांस्कृतिक संस्कारों को भाषा-विज्ञान में

महत्व नहीं दिया गया है। वर्ण-ध्वनियों की प्राकृतिकता का अनुरोध शब्द-विज्ञान में भी बना रहता है। यह अनुरोध दो रूपों में भाषा-विज्ञान को प्रभावित करता है। एक तो सभी भाषाओं के विवेचन में वर्ण-ध्वनियों को भाषा का प्राथमिक एवं प्राकृतिक आधार माना जाता है। दूसरे वर्णों से शब्दों के निर्माण को पूर्णत: आकस्मिक संयोग तथा व्यवहार एवं परम्परा में प्रतिष्ठित रूढ़ि से शासित माना जाता है।

जिस प्रकार वर्ण-ध्वनियों के उद्गम को पूर्णत: प्राकृतिक मानना सत्य नहीं है,उसी प्रकार वर्ण-ध्वनियों को सभी भाषाओं की प्राथमिक इकाई मानना भी भ्रमपूर्ण है। वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा विचार इस परिणाम पर पहुँचता है कि वर्ण-ध्वनियाँ भाषा की प्राथमिक एवं मौलिक इकाइयाँ हैं किन्तु वास्तव में भाषाओं का उद्गम एवं आरम्भ ऐसी विविक्त ध्वनियों से नहीं हुआ है। संस्कृत के अतिरिक्त शायद ही ऐसी कोई भाषा हो जिसके शब्द निर्माण के मूल में विविक्त वर्ण-ध्वनियों का स्पष्ट आधार खोजा जा सके। अधिकांश अन्य भाषाओं का आरम्भ सम्पूर्ण शब्दों या वाक्यों से हुआ है। जीवन,सभ्यता तथा विचार के विकास के साथ उनमें शब्द-खण्डों का विवेक तथा उनके योग से शब्दों का निर्माण सम्भव हुआ होगा। वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा भी संस्कृत के अलावा अन्य भाषाओं में वर्ण-ध्वनियों का आधार विविक्त, संगत,स्पष्ट व नियमित रूप में नहीं मिलता है जैसा कि संस्कृत भाषा में मिलता है। इन भाषाओं की वास्तविक मौलिक इकाई शब्द व उसके बाद शब्द-खण्ड हैं। ये भाषाएँ वर्ण-विवेक की भूमि तक नहीं पहुँचीं। ये भाषाएँ अपने मूल रूप में वैज्ञानिक,विश्लेषणात्मक तथा सांस्कृतिक नहीं हैं। शायद संस्कृत के पश्चिमगामी प्रभाव तथा लेखन और शिक्षण की अपेक्षाओं के अनुरोध से इन भाषाओं की परम्परा में वर्ण-विवेक का आरोपण हुआ है। इसका प्रमाण शब्द-निर्माण की प्रक्रियाओं के विवेचन में मिल सकता है। अधिकांश भाषाओं के अधिकांश शब्द-खंडों से निर्मित जान पड़ते हैं। इन भाषाओं में वर्ण सार्थक इकाई की सीमा तक नहीं पहुँच सका है। संस्कृत भाषा में अनेक वर्ण शब्दों के समान सार्थक हैं और इनके आकस्मिक नहीं वरन् बौद्धिक एवं संकल्पित योग से शब्दों का निर्माण हुआ है। " क,ख,ग,ज,प,ल आदि वर्ण तथा इनके सहयोग से निर्मित जनक,खग,अज,नृप आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। "[3]

(ग) बौद्धिक भूमि

सार्थक वर्णों तथा उनके सहयोग से निर्मित शब्दों में भाषा बौद्धिक भूमि

पर पदार्पण करती है। संस्कृत भाषा की बौद्धिक भूमि अधिक दृढ़ एवं विस्तृत है। अन्य भाषाओं से यह बौद्धिक भूमि इतनी मौलिक एवं स्पष्ट नहीं वरन् शब्द-निर्माण की व्यावहारिक एवं रूढ़िपरक परम्परा में ही मिश्रित है। इन भाषाओं की बौद्धिकता शब्द खण्डो से शब्दों के निर्माण तथा वाक्य-विन्यास की अर्थ संगति में प्रकट होती है किन्तु किसी न किसी रूप में सभी भाषाओं का विकास बौद्धिक भूमि पर हुआ है। यह बौद्धिक भूमि भाषा की तृतीय भूमि है। अर्थ-विज्ञान में भाषा की बौद्धिक भूमि का अध्ययन अधिक आवश्यक है जहाँ सभी भाषाओं की वर्ण-ध्वनियों की समानता,सहजता आदि भाषा की प्राकृतिक भूमि के लक्षण हैं वहाँ एक भाषा के अन्तर्गत शब्द निर्माण तथा वाक्य-विन्यास के नियमों एवं व्यवस्थाओं का अनुपालन उस भाषा की बौद्धिक-भूमि की रूपरेखा अंकित करता है। आकस्मिक संयोग,व्यवहार की आकांक्षा,परम्परा का प्रभाव आदि की रूढ़िमुखी गति से जिन शब्दों का निर्माण व्यावहारिक रूढ़ि की भूमि पर होता है उनके कोश की सम्पन्नता तथा उनके द्वारा वाक्य विपुल साहित्य की समृद्धि बौद्धिक भूमि पर होती है। भाषा के इस बौद्धिक पक्ष का अत्यधिक महत्व है। भाषा-विज्ञान के विवेचनों में इसको महत्व देना परमावश्यक है।

अब तक हमने भाषा की तीन भूमियों का उल्लेख किया है जिन्हें भाषा की प्राकृतिक,व्यावहारिक या शब्द-निर्माण तथा बौद्धिक भूमियाँ कहा जा सकता है। प्राकृतिक भूमि का संबंध भाषाओं की मूल वर्ण-ध्वनियों से तथा व्यावहारिक भूमि का सम्बन्ध व्यवहार की आकांक्षा एवं रूढ़िवादी परम्परा के प्रभाव से शब्दों के निर्माण से है। शब्द-खण्डों से शब्दों का निर्माण तथा सार्थक शब्दों की संगति से वाक्यों का विधान भाषा की बौद्धिक भूमि पर होता है। भाषा का व्याकरण भी भाषा की इसी बौद्धिक भूमि पर फलित होता है।

(घ) सांस्कृतिक भूमि

भाषा-विज्ञान के विवेचनों में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भूमियों की चर्चा प्राय: नहीं रहती क्योंकि एक तो विद्वानों ने भाषा के सांस्कृतिक सन्दर्भों और आध्यात्मिक आधारों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया। वर्ण-ध्वनि के रूप में भाषा के प्राकृतिक आधारों तथा ध्वनि-विकारों के प्राकृतिक नियमों के विवेचन को ही वे भाषा-विज्ञान का मुख्य कार्य मानते रहे। भाषाओं के वर्ण-विधान में उन्हें संस्कृति एवं अध्यात्म के सूत्र नहीं दिखाई दिये। शब्द-निर्माण व प्रयोग सन्दर्भ में निहित सांस्कृतिक सूत्रों की ओर भी ध्यान नहीं गया। संस्कृत भाषा के वर्ण-विधान और

शब्द-प्रयोग में सांस्कृतिक सूत्र अधिक विपुल हैं। संस्कृत को इस दृष्टि से न देखने के कारण भाषा-विज्ञान का संस्कृति पक्ष उपेक्षित रहा है। भाषा-विज्ञान में भाषाओं विशेषत: संस्कृत भाषा के विकास में संस्कृति का योगदान पक्ष पर ध्यान देना आवश्यक है।

भाषा और भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति के योगदान को समझने के लिए संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट जानना होगा। संस्कृति मनुष्य की कृति है। जिन रचनाओं में मनुष्य का कृतित्व स्पष्ट दिखाई देता है उन्हें **संस्कृति** कहा जा सकता है। भाषा तथा भाषा-विज्ञान भी मनुष्य की रचना है। आद्योपान्त इनका विकास मानव द्वारा ही किया जा रहा है। भाषाओं का अध्ययन भाषा-विज्ञान में मनुष्य ही विविध दृष्टियों से करता है। भाषा-विज्ञान का समस्त विकास मानव पर आधारित है अत: इसमें संस्कृति का पूर्णत: योगदान है। इस सांस्कृतिक रचना के साधन प्रकृति-प्रदत्त होते हैं किन्तु मनुष्य अपने स्वतंत्र संकल्प के द्वारा इन साधनों में सुन्दर रूपों एवं भव्य भावों का अनुष्ठान करता है। सामान्यता,अनिवार्यता, नियमबद्धता आदि प्रकृति के लक्षण हैं। भाषा की आधारभूत ध्वनियों में ये लक्षण मिलते हैं जिससे इन ध्वनियों की प्राकृतिकता सिद्ध होती है। मनुष्य के सांस्कृतिक संकल्प से वर्ण-विधान में,इससे भी अधिक शब्द-विधान एवं अर्थ-योजना में विविध रूपों एवं भावों का अनुष्ठान हुआ है। मानवीय संकल्प के इसी अध्यवसाय से भाषा का संस्कृतिपरक रूप निखरता है।

भाषा की व्यावहारिक व बौद्धिक भूमियों में ही जीवन एवं भाषा की सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना का प्रभाव रहता है। जीवन के विकास में जब भाषा अपनी आदिम अवस्था से उभरकर वर्णों एवं शब्दों की आरम्भिक व्यवस्था के रूप में उदित हुई होगी उस समय तक मनुष्य के जीवन में कुछ पारिवारिक भूमिका में सभ्यता और संस्कृति के सरल रूप अवश्य अंकुरित होने लगे होंगे। व्यवहार और संप्रेषण के मानवीय माध्यम के रूप में भाषा का अभ्युदय परिवार और समाज के अंकुरण के साथ ही संभव हो सका होगा। इसका प्रमाण ये है कि समस्त विदित भाषाओं में पारिवारिक संबंधों तथा सांस्कृतिक सन्दर्भों के सूचक शब्द पाये जाते हैं। परिवार की स्थिति से पूर्व की विशृंखल और बर्बर अवस्था की कोई व्यवस्थित भाषा उपलब्ध नहीं है। उस आदिम अवस्था की भाषा पशु-भाषा के समान समस्त ध्वनि-समूहों की अविश्लेषणीय तथा अविकास्य भाषा रही होगी,जो विदित विश्लेषणीय तथा विकास्य भाषाओं से पूर्णत: भिन्न रही होगी।

सभ्यता और संस्कृति की जिस प्रारम्भिक अवस्था में वर्तमान भाषाओं का अंकुर हुआ होगा उस अवस्था में भाषा की व्यावहारिक भूमिका के वास्तविक संदर्भ भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रहे होंगे। मनुष्य संकल्प की स्वतंत्रता के कारण इन आकस्मिक संयोगों, प्रयोजनों आदि में भी भिन्नता रही होगी जिनको विभिन्न भाषाओं के दूसरी भाषा से भिन्न किन्तु समान पदार्थों,भावों,क्रियाओं आदि के वाचक शब्दों का विधायक माना जा सकता है। सांस्कृतिक सन्दर्भों की भिन्नता को भी शब्दों की इस भिन्नता का कारक माना जा सकता है।

अत: विश्व के विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्रों में सीमित मानव-समूहों के बीच पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों की भूमिका में विश्व की बहुसंख्यक भाषाओं का उदय हुआ होगा इन भाषाओं में वर्ण-ध्वनियों के प्राकृतिक आधार समान हैं। कुछ भाषा समूहों में जिनको एक परिवार के अन्तर्गत माना जाता है,कुछ संबंधों, पदार्थों आदि के शब्द भी समान हैं किन्तु शब्दों की समानता सब भाषाओं में व्यापक रूप से नहीं मिलती है। वह अत्यन्त सीमित है और एक परिवार की भाषाओं में ही मिलती है। इसके अलावा सब भाषाओं में अधिकांश पदार्थों,भावों और क्रियाओं के वाचक शब्द भिन्न-भिन्न हैं। यह भिन्नता कुछ अकारण भी हो सकती है। वर्ण-ध्वनियों के जो समूह वाचक शब्द बने हैं उनके निर्माण में अकारण और आकस्मिक संयोग भी अवश्य होगा परन्तु इसके साथ शब्द रूप की अलक्ष्य अर्थ-संगति, व्यावहारिक निमित्तों की प्रेरणा,आत्मिक संकल्प की स्वछन्दता, सांस्कृतिक सन्दर्भों की आकांक्षा आदि अनेक सांस्कृतिक निमित्त भी शब्द-रूपों की विभिन्नता के विधायक रहे होंगे। शब्द-रूपों की इन विभिन्नताओं तथा उनके सांस्कृतिक संबंधों की विशेषताओं में भाषा की सांस्कृतिक रूपरेखाएँ उभरती हैं।

भाषा की यह सांस्कृतिक भूमि अत्यन्त उर्वर और विशाल है वस्तुत: यह भाषा का सम्पूर्ण क्षेत्र है। प्राकृतिक व्यावहारिक और बौद्धिक भूमियाँ भी इसी के अंग हैं जो जीवन के तद्रूप अनुरोधों के कारण प्रत्यक्ष रूप में तदाकार दिखाई देते हैं किन्तु उनके पीछे भी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भावों की प्रेरणा अन्तर्निहित है। काम,मैथुन,वात्सल्य के त्रिगुण सूत्र के द्वारा परिवार एवं समाज की प्रारम्भिक इकाइयों का संगठन हुआ और उनकी आदिम स्थितियों में अन्तर की आत्मिक प्रेरणा के द्वारा व्यवहार एवं सम्प्रेषण के प्रसंगों में विदित भाषाओं के बीज अंकुरित हुए हैं। अध्यात्म एवं संस्कृति भाषा के इन बीजांकुरों के संयुक्त द्विदल हैं। अंकुरित रूप में ये दो दल भिन्न हो जाते हैं किन्तु ये आध्यात्मिक संस्कारों के एक मूल

में ही आश्रित रहते हैं। एक ओर वे इस मूल के पोषक हैं किन्तु दूसरी ओर से वे इससे पोषित भी होते हैं।

भाषा और जीवन के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक रहस्य अत्यन्त दुरूह हैं। बहुत कठिनता से तथा अल्प मात्रा में उन्हें व्यक्त किया जा सकता है। सजीव सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भावों में ही इनका अवगाहन व आस्वादन होता है। संश्लिष्ट तत्व होने के कारण बौद्धिक विश्लेषण में इनके सजीव रूप विच्छिन्न हो जाते हैं। भाषा इनकी आत्मजा और ज्ञान इनका आत्मज है। ये संस्कृति और अध्यात्म के रूप अपने अभिन्न पितरों के मौलिक भावों तक नहीं पहुँच सकते। जीवन और साधना की प्रौढ़ स्थितियों तक पहुँचकर ये उन भावों का साक्षात्कार कर सकते हैं।

फिर भी जहाँ तक सम्भव है भाषा की सांस्कृतिक और आत्मिक भूमियों का विवरण भाषा के वास्तविक स्वरूप एवं रहस्य को समझने के लिए आवश्यक है। संस्कृति में मनुष्य का स्वतंत्र कर्तृत्व प्रकट होता है। स्वतंत्रता के कारण संस्कृति की कृतियाँ एक रूप नहीं वरन् विभिन्न होती हैं। यह कर्तृत्व वस्तु,रूप,भाव आदि की रचना में व्यक्त होता हैं। **वस्तु** मूर्त सत्ता है। **रूप** सौन्दर्य का अधिष्ठान है। **भाव** अनुभूति का आनन्द है। संभोग,संबंध,संप्रेषण,व्यवहार आदि के सामाजिक एवं पारस्परिक प्रसंगों में मनुष्य के विकासशील मुखर यंत्र से भाषा का आदि स्फोट हुआ होगा। ध्वनि-यंत्र की शारीरिक समानता के कारण सभी मानवीय भाषाओं में बहुत कुछ समान मूल ध्वनियाँ मिलती हैं किन्तु इन ध्वनियों के स्फोट और परिष्कार में आत्मिक अंत:प्रेरणा एवं सांस्कृतिक कर्तृत्व का योग असंदिग्ध है। विभिन्न भाषाओं में शब्दों की विभिन्नता में इस सांस्कृतिक कर्तृत्व की स्वतंत्रता एवं क्षमता अधिक स्पष्ट रूप में प्रयुक्त होती है। संस्कृति एक सामाजिक परम्परा है। व्यवहार में रूढ़ होकर भाषा के शब्द भी परम्परा के अंग बन जाते हैं। काल और परम्परा का दीर्घ सन्दर्भ उनमें रूप और भाव के उस अतिशय का अनुष्ठान करता है जो संस्कृति का मूल मर्म है। वर्णों एवं शब्दों के उच्चारण व लेखन का रूप अतिशय से युक्त होने के नाते कलात्मक अत: सांस्कृतिक है। अल्प एवं सीमित रूप में भी वर्णों एवं शब्दों का सौन्दर्य खिलता है। जीवन के आत्मिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों में शब्दों में रूप और भाव का अधिक अतिशय समाहित होता है। शब्दों और वाक्यों की बौद्धिक व्यवस्था का कर्तृत्व भी सांस्कृतिक है यद्यपि यह रूप और भाव की रचना करने के साथ उनको व्यावहारिक अर्थशास्त्र

की दृष्टि से परिमित भी करता है।

अस्तु भाषा के उदय की सामाजिक भूमिका में व्यवहार एवं संप्रेषण में प्रकट कर्तृत्व और विभिन्न समाजों के विभिन्न अवसरों से अनुष्ठित शब्दों के विभिन्न रूप और विविध भाव भाषा की उर्वर सांस्कृतिक भूमि के रुचिर फल हैं। भूमि और जलवायु की विशेषता के कारण कुछ फल विशेष क्षेत्रों में ही होते हैं अन्यत्र उनका आरोपण नहीं हो सकता। इसी प्रकार भाषाओं के अनेक शब्दों के पीछे एक समाज का विशेष कर्तृत्व रहता है तथा उनमें रूप और भाव के अतिशय की जटिलता समाहित रहती है। सांस्कृतिक गरिमा के कारण ऐसे शब्दों का अन्य समाजों में संचार और आरोपण नहीं होता जहाँ विभिन्न भाषाओं में वर्ण-ध्वनियों में बहुत समानता है तथा विभिन्न भाषाओं में शब्दों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ है वहाँ वर्ण-विधान और लिपि की ऐसी विशेषताएँ हैं तथा शब्दों के ऐसे रूप भी हैं जिनका एक भाषा की सांस्कृतिक भूमिका में अभ्युदय हुआ है। सांस्कृतिक सूत्रों और सन्दर्भों की जटिलता के कारण इनका अन्य भाषाओं में संचार एवं आरोपण नहीं हो सका है और यदि हुआ है तो भिन्न जलवायु के वृक्षों के आरोपण के समान सफल नहीं हुआ है।

संस्कृत भाषा के वर्ण-विधान में तथा उसके अनेक शब्दों में ये सांस्कृतिक सूत्र और सन्दर्भ विपुलता से मिलते हैं। संस्कृत भाषा के सांस्कृतिक सूत्रों में उसकी वर्णमाला का वैज्ञानिक क्रम,वर्णों का यथार्थनाम एवं परिमित उच्चारण, वैज्ञानिक व्याकरण,शब्दों के तुल्य अर्थ देने वाले वर्ण,सार्थक वर्णों से शब्द-निर्माण,वाक्य में वर्णों की विविक्त स्थिति एवं विविक्त उच्चारण,देवनागरी लिपि की शिरोरेखा युक्त कलात्मक लेखन विधि,असंख्य शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ,शब्दों के पर्यायों की अर्थ-भंगिमाएँ,विविक्त वर्णों का श्लोकपाठ में अतिरिक्त अन्तर्नाद, वैदिक पाठ की विलम्बित गति,धातु बीज से विविध अर्थ के बोधक अनेक शब्दों का निर्माण आदि की गणना की जा सकती है। सामान्य पदों के विशेष सांस्कृतिक भाव भी संस्कृत भाषा की विशेषता है।

अन्य भाषाओं में भी ऐसे सांस्कृतिक सूत्र न्यूनाधिक मात्रा में मिल सकते हैं। अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में वाक्य के उच्चारण की लय तथा स्वर का अन्तर्नाद रूप का कलात्मक अतिशय है जो भाषा की सामान्य सांस्कृतिकता का द्योतक है। ग्रीक और जर्मन भाषाओं की लिपि का आकार सुन्दर और कलात्मक है। शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ सभी भाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं।

अंग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं में कर्ता के बाद क्रिया पद की अव्यवहित स्थिति जाति की सक्रियता की सूचक है।" हिन्दी भाषा के वाक्य में क्रियापद का अन्त में आना जाति का क्रिया के प्रति अनुत्साह लक्षित करता है। "[4]

जहाँ प्रकृति का लक्षण सामान्यता है,वहाँ संस्कृति के रूप स्थानीय समाज के संकल्प से रचित होने के कारण विविध होते हैं और अपनी विशेषता रखते हैं। वर्णों और शब्दों के सांस्कृतिक विधान तथा शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न होते हैं जबकि विभिन्न भाषाओं की मूल वर्ण-ध्वनियों में बहुत समानता है। इस समानता के आधार पर तथा विभिन्न भाषाओं में ध्वनि-भेदों और ध्वनि-विकारों की दिशा में भाषाओं का अधिक अध्ययन हुआ है। वर्ण-विवेक,शब्द-निर्माण,अर्थ-विधान,शब्द-सन्दर्भ आदि के संकल्पजन्य एवं विविध सांस्कृतिक पक्षों के अनुसंधान की दिशाओं में भाषा-विज्ञान की प्रगति बहुत कम हुई है। इन दिशाओं में भाषा-विज्ञान का अग्रसर होना अनेक दृष्टियों से आवश्यक है। मूल-ध्वनियों की समानता के आधार पर भाषाओं के अध्ययन से उनकी सामान्य एकता प्रकट होती है। कुछ समान शब्दों के सूत्र से उनकी पारिवारिक एकता प्रतिपादित होती है। सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुसार भाषाओं का अध्ययन करने से उनकी मौलिक विशेषताएँ और भिन्नताएँ विदित होंगी तथा विभिन्न भाषाओं की सापेक्ष सांस्कृतिक सम्पन्नता का भी अनुमान होगा। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही भाषाओं के अध्ययन से उनके स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकेगा क्योंकि अपने जटिल एवं सम्पूर्ण रूप में भाषा अन्ततः एक सांस्कृतिक रचना है। वह प्राकृतिक ध्वनियों के आकस्मिक संयोग से निर्मित शब्दों का समूह मात्र नहीं होता है,वरन् विभिन्न भाषाएँ विभिन्न भूभागों के निवासियों के अनेकविध सामाजिक अध्यवसायों एवं सांस्कृतिक संकल्पों की अनंत सूक्ष्म प्रेरणाओं से सम्पन्न अनुपम सांस्कृतिक निधियाँ हैं। वर्ण-ध्वनियों की प्राकृतिक भूमि भाषाओं के प्रासादों का आधार अवश्य हैं। व्यावहारिक और बौद्धिक विधानों से भाषाओं के प्रासादों के आधार निर्धारित होते हैं किन्तु उनका कलात्मक सजीव एवं सुन्दर रूप सांस्कृतिक संकल्पों से सांस्कृतिक धरातल पर ही प्रतिष्ठित होता है।

अस्तु सांस्कृतिक भूमि ही भाषा की प्रतिष्ठा की वास्तविक भूमि है। प्राकृतिक वर्ण-ध्वनियों,व्यवहार परम्परा और बौद्धिक विधान की तीन पूर्व भूमियाँ भाषा की भूमिका मात्र हैं। चतुर्थ सांस्कृतिक भूमि पर ही भाषा अपने संपूर्ण एवं विशिष्ट रूप में सम्पन्न होती है। भाषा की सांस्कृतिक रचना के पीछे एक अलक्ष्य

आध्यात्मिक प्रेरणा का सूत्र भी अन्तर्निहित रहता है।

(ङ)आध्यात्मिक भूमि

वस्तुत: भाषा की सांस्कृतिक रचना के पीछे ही नहीं अपितु समस्त सांस्कृतिक रचना के पीछे एक अलक्ष्य आध्यात्मिक प्रेरणा का सूत्र अन्तर्निहित रहता है इस आध्यात्मिक प्रेरणा को भाषा की पाँचवीं भूमि कह सकते हैं। दूसरी ओर यह भाषा-विधान की सांस्कृतिक परिणति की मूल तथा भाषा के विकास की समानान्तर प्रेरणा भी है। अध्यात्म का रहस्य बड़ा कठिन है। भाषा की मूल प्रेरणा होने के कारण वह भाषातीत है। विचार के प्रत्ययों और भाषा के शब्दों के द्वारा उसका विवरण नहीं किया जा सकता। बुद्धि के निकटतम् प्रत्ययों के द्वारा उसका संकेत मात्र किया जा सकता है।

इन्द्रिय जन्य,इन्द्रिय ग्राह्य और प्राकृतिक वर्ण-ध्वनियों से निर्मित होने के कारण भाषा के अध्ययन की प्रणाली वैज्ञानिक एवं लौकिक रही है। भाषा के अध्ययन में ही नहीं जीवन के अन्य रूपों के प्रसंगों में भी वैज्ञानिक एवं लौकिक दृष्टिकोण ही आधुनिक युग में बलवान रहा है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण लौकिक ही होता है। वह किसी अलौकिक और अतीन्द्रिय तत्व को स्वीकार नहीं करता। वह प्रत्यक्ष संवेदना से ज्ञेय विषयों को ही सत्य और अपने अध्ययन का आधार मानता है। भाषा के सन्दर्भ में मुखर यंत्रों से उत्पाद्य और श्रवण द्वारा ग्राह्य वर्ण-ध्वनियाँ तथा उनसे निर्मित शब्दावली ही भाषा का वैज्ञानिक उपादान है। इनके पीछे किसी अतीन्द्रिय सत्ता या शक्ति की कल्पना करना अवैज्ञानिक अन्धविश्वास है।

भारतीय परम्परा में भाषा और जीवन दोनों के पीछे एक अलौकिक आधार माना गया है जिसे आत्मा अथवा ब्रह्म कहा जाता है।" **आत्मा** का अर्थ अन्तर्तम एवं परमप्रिय सत्य है। **ब्रह्म** का अर्थ व्यापक एवं वर्धनशील तत्व है। "[5] आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्व के दो नाम या रूप हैं। जो हमारा अन्तर्तम और परमप्रिय सत्य है वही विश्व का व्यापक एवं वर्धनशील तत्व भी है। यह आध्यात्मिक तत्व सभी लौकिक विषयों से भिन्न है। लौकिक विषय परिमित,बहिर्गत तथा नियमित है। आध्यात्मिक तत्व असीम,अन्तर्गत और स्वतंत्र है। अपरिमित और अनियमित होने के कारण वह वर्धनशील एवं आनन्दमय है। यह आध्यात्मिक तत्व लोकातीत होने के कारण इन्द्रियों,मन,बुद्धि,वाणी आदि के द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह अपने आनन्द का आस्वादन स्वयं अपने स्वरूप में ही करता है।

भारतीय दर्शन और भाषा-शास्त्र के अनुसार यह आध्यात्मिक तत्व जीवन एवं भाषा का मूलाधार और दोनों की प्रेरणा है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार " इसी परम तत्व से समस्त जीव उत्पन्न होते हैं और इसी के आश्रय में वे जीते हैं। "[6] केनोपनिषद् के अनुसार " यह अध्यात्म तत्व मन,वाणी,बुद्धि और इन्द्रियों से परे है तथा इनके द्वारा ग्राह्य नहीं है,किन्तु साथ ही वह इन सबकी मूल प्रेरणा है। यह चक्षु का चक्षु,श्रोत्र का श्रोत्र,मन का मन है। "[7] " इसी के द्वारा प्रेरित होकर इन्द्रियाँ,मन,वाणी आदि अपना कार्य करते हैं। "[8]

केनोपनिषद् में एक आख्यान में यह बताया गया है कि अग्नि,वायु आदि में अपनी कोई शक्ति नहीं है। ये ब्रह्म की शक्ति से ही कार्य करते हैं।[9]

भारतीय वेदान्त दर्शन तथा व्याकरण-दर्शन में तत्व-शास्त्र की प्रणाली के अनुरूप इस आध्यात्मिक तत्व का प्रतिपादन किया गया है। जीवन के सन्दर्भों में इसकी सत्यता के सूत्रों का वेदान्त-दर्शन में संकेत नहीं किया गया है,इसीलिए आध्यात्मिक तत्व का अवगाहन बड़ा कठिन हो गया है। आधुनिक विचार की दिशा वैज्ञानिक, लौकिक,ऐन्द्रिक होने के कारण अध्यात्म अनास्था का विषय बन गया है किन्तु सत्य यह है कि अध्यात्म जीवन और भाषा का परम एवं मूल सत्य है। अलौकिक विचारातीत और भाषातीत होने के कारण उसे प्रतिपादित एवं प्रमाणित करना कठिन है लेकिन वह स्वत: प्रमाणित है। जीवन की सभी स्थितियों में उसकी सत्यता का आभास मिल सकता है। अद्वैत और आनन्द इस आभास के आलोक-सूत्र हैं। प्राकृतिक सत्ता द्वैतमय है। लोक की इकाइयाँ अपने रूढ़ तथा दूसरी इकाइयों की ओर से उदासीन रहती हैं। द्वैत,नियम और उदासीनता प्रकृति-लोक के लक्षण हैं। मनुष्य जीवन में इस द्वैत और उदासीनता का कुछ अतिक्रमण दिखाई देता है। काम,सम्भोग और वात्सल्य में इस अतिक्रमण के क्षितिज खुलते हैं। इनमें अद्वैत और आनन्द के बीज अंकुरित होते हैं। आदिमकाल में मनुष्य में अभिव्यक्ति खोजती हुई आत्मा की प्रेरणा से ही काम और संभोग के शारीरिक अद्वैत की भूमिका में आत्मिक अद्वैत एवं आनंद के अंकुर विकसित हुए होंगे। इन अंकुरों के द्वैताद्वैत से पोषित होकर आदिम दाम्पत्य के सापेक्ष स्थायित्व में आत्मा के पीठ की आदिम प्रतिष्ठा हुई होगी। दाम्पत्य के अंचल में वात्सल्य की अबोध,अस्फुट किन्तु सजीव एवं सहज रश्मियों से आदिम आवास का आंगन आलोकित हुआ होगा। मनुष्य के असमर्थ शिशु के दीर्घ-परिपालन की अपेक्षा ने अद्वैत और आनन्द के आध्यात्मिक सूत्रों को प्राकृतिक जीवन की भूमि पर विस्तारित किया होगा।

आदिम मनुष्य जीवन की इन्हीं अध्यात्म-गर्भित भूमिकाओं में भाषा,संस्कृति और सभ्यता का आरम्भिक विकास हुआ होगा। इन भूमिकाओं में अन्तर्निहित आत्मा की प्रेरणा से ही आदिम मनुष्य की इन्द्रियों,मन और बुद्धि का भी परिष्कार हुआ होगा। यह परिष्कार ही संस्कृति का सूत्र है और अध्यात्म इस सूत्र का बल है। अध्यात्म के बल से सशक्त एवं समर्थ होकर संस्कृति का सूत्र जीवन के बहुमुखी विकास का रश्मिबंध बना है। जीवन,संस्कृति और भाषा की इन आध्यात्मिक भूमिकाओं का आभास हम काम,सम्भोग,दाम्पत्य और वात्सल्य की आद्योपान्त स्थितियों में अद्वैत एवं आनन्द के रूप में निरन्तर प्राप्त करते रहे हैं। अध्यात्म के अद्वैत की निरन्तर आवृत्ति ही समाज और सभ्यता की परम्परा की शृंखला को विशृंखल होने से बचाती रही हैं। विडम्बना ये है कि अध्यात्म की प्रेरणा से ही जिन बुद्धियों और विषयों का संवर्धन हुआ है उनका व्यामोह ही आत्मा के सूत्रों को तिरोहित कर आधुनिक युग की अध्यात्म-संबंधी अनास्था का कारण बन रहा है। यह अनास्था आत्मिक प्रेरणा से संचालित सभ्यता के **ह्रास** और विनाश का कारण बनेगी।

अस्तु अध्यात्म ही जीवन का परम सत्य है। वह विश्व का आश्रय और जीवन की मूल प्रेरणा है। आत्मा के अद्वैत की प्रेरणा से ही आदिम जीवन में काम,संभोग,दाम्पत्य,वात्सल्य के सूत्रों से भाषा,संस्कृति,समाज और सभ्यता का विकास हुआ है जो अध्यात्म इनकी अन्तर्निहित प्रेरणा है उसी का जीवन में उत्कर्ष इनका लक्ष्य है। भाषा की यह पाँचवीं भूमि भाषा का मूलाधार एवं चरम अभिप्राय है। अभिव्यक्ति के जिस प्रयोजन से भाषा का स्फोट व विकास हुआ,उस अभिव्यक्ति का निगूढ़ रहस्य अद्वैत की अन्तर्निहित आकांक्षा ही है। जिस अध्यात्म की प्रेरणा से शब्द का स्फोट हुआ उसी में भाषा की परिणति की प्रतिष्ठा साहित्य का अभीष्ट और भाषा-शास्त्र का प्रयोजन है। काव्य-शास्त्र के आचार्य मम्मट ने **सद्यः परनिर्वृत्तये** [10] में साहित्य के इसी अभीष्ट का संकेत किया है। बाल्मीकि,व्यास, कालिदास,तुलसीदास आदि के काव्य में यह अभीष्ट बहुत कुछ पूरा हुआ है। रामानुजाचार्य के अनुसार सभी पदों के तात्पर्य की परिणति परमात्मा में होती है। व्याकरण दर्शन में ब्रह्म को शब्द रूप और जगत को उसका अर्थ रूप विवर्त कहा है। वाक् के चतुर्धा रूप मुखर वाणी के अध्यात्मगामी सोपानों का निर्देश करते हैं। भाष्यकार पतंजलि के अनुसार " सुप्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्गलोक में कामधेनु बन जाता है। "[11]

वह ब्रह्मरूप और कामधेनु शब्द अद्वैत भाव से युक्त और आनन्दवर्षक शब्द है,जिसका आभास माता की ममतामयी अथवा पत्नी की प्रेममयी वाणी में मिलता है।

वैज्ञानिक प्रणाली के प्रभाव के कारण आधुनिक भाषा-विज्ञान की रुचि भाषा के इन आध्यात्मिक रहस्यों में नहीं है। भाषा-विज्ञान ध्वनि की प्राकृतिक परिधि में ही अधिक सीमित है किन्तु भाषा के आध्यात्मिक स्रोतों के भरण-पोषण द्वारा ही मुखर वाणी की लोक-ग्राह्य धारा पोषित होती है। अध्यात्म के उच्चतम अनुग्रह से ही इस धारा के तीर पर प्रतिष्ठित संस्कृति के तीर्थ संरक्षित हैं। इन सांस्कृतिक तीर्थों पर भाषा की धारा का अवगाहन भी पुण्यदायक है किन्तु अध्यात्म के जिन शिखरों से भाषा की प्रकट धारा का उद्गम होता है तथा अध्यात्म के जिस गंगासागर में उसकी परिणति होती है उन शिखरों की यात्रा का पुण्य अपार और अवर्णनीय है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 48
2. वही,पृष्ठ संख्या 50
3. वही,पृष्ठ संख्या 54
4. वही,पृष्ठ संख्या 60
5. बाबूराम त्रिपाठी-भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 58
6. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1/9
7. केनोपनिषद् 1/2
8. वही 1/5/6
9. वही 1/3
10. डॉ.भगीरथ मिश्र-काव्य शास्त्र,पृष्ठ संख्या 31
11. महाभाष्य,प्रथम आह्निक

अध्याय-2

सांस्कृतिक आधार और भाषा का विकास

विश्व के अनेक मानव-समाजों में जिस रूप में भाषाएँ मिलती हैं,भाषाओं का वह रूप बहुत कुछ सांस्कृतिक है। विभिन्न समाजों की भाषाएँ अपने इतिहास के प्राचीनतम काल में जिस अवस्था में मिलती हैं उसके बाद कालक्रम से उनके रूप का विकास हुआ है। इन भाषाओं के विकास में अनेक सांस्कृतिक सूत्र समाहित हुए हैं। भाषाओं का विकास संस्कृति के आधार पर ही हुआ है। इन भाषाओं के आरम्भिक रूप भी सांस्कृतिक हैं। इनके आरम्भिक रूप की परिणति के पूर्व की अविदित अवस्थाओं में भी मनुष्य के सांस्कृतिक अध्यवसाय के प्रभाव रहे होंगे। इन्हीं प्रभावों ने इन भाषाओं को इनकी आरम्भिक अवस्थाओं को सांस्कृतिक परिणति का रूप दिया होगा। आरम्भिक विदित अवस्था के बाद सांस्कृतिक अध्यवसाय और प्रभाव की प्रेरणा से ही शब्दों की भाव-भंगिमाओं,अर्थ-सम्पत्ति और अभिव्यंजना शक्ति के रूप में इन भाषाओं का विकास हुआ है।

(क) भाषा के आरम्भिक रूप निर्माण में संस्कृति का योगदान

भाषाओं के आरम्भिक एवं विकसित दोनों ही रूपों के निर्माण की सांस्कृतिक प्रेरणा को प्रमाणित करने के लिए मानवीय भाषा के मुख्य विधायक अंगों का विश्लेषण करके सांस्कृतिक सूत्रों से उन्हें संबद्ध करना होगा। संस्कृति के रूपगत एवं भावगत लक्षणों का निर्धारण करके भाषा के आरम्भिक एवं विकसित रूप के मुख्य अंगों के अभ्युदय की स्थिति में उन लक्षणों का समन्वय करके भाषा के उद्भव और विकास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि स्पष्ट की जा सकती है। भाषाओं के निर्माण और उनके स्वरूप को सांस्कृतिक मानने का अभिप्राय उनके मूल एवं सामान्य प्राकृतिक आधारों तथा उपादानों का निषेध करना नहीं है इसका अभिप्राय केवल इतना है कि सामान्य प्राकृतिक आधारों एवं उपादानों से जिन विशेष रूपों में विभिन्न भाषाओं का निर्माण हुआ,उन विशेष रूपों में ये भाषाएँ सांस्कृतिक हैं,यद्यपि विभिन्न समाजों में सांस्कृतिक अध्यवसाय के रूप,गुण और मात्रा की भिन्नता के कारण विभिन्न भाषाओं में सांस्कृतिक लक्षण विभिन्न रूप और मात्रा में मिलते हैं। संस्कृत भाषा में संस्कृति के लक्षण सर्वाधिक हैं। संस्कृत के समान कुछ अन्य भाषाओं में भी सांस्कृतिक लक्षण अधिक

समृद्ध रूप में तथा विपुल मात्रा में मिलते हैं किन्तु सभी भाषाओं के आरम्भिक रूप का निर्माण सांस्कृतिक उद्योग से ही हुआ है और उनके आरम्भिक विदित रूप में प्रेरणा,रूप विधान आदि की रचनात्मक शक्ति के रूप में संस्कृति के लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में समन्वित हैं।

संस्कृति के जो सूत्र भाषा तथा अन्य मानवीय रचनाओं को प्रेरित तथा उनकी सरणि का सन्धान करते हैं उनमें संकल्प,स्वतंत्रता,सामाजिकता,समात्मभाव, रूप का अतिशय,भाव का अतिशय,परम्परा,विविधता,व्यवस्था आदि मुख्य हैं। जिस रूप में भाषाएँ अपनी प्राचीनतम अवस्था में मिलती हैं तथा जिस रूप में उनका आगे विकास हुआ है भाषाओं के उस रूप में वर्ण-ध्वनियों का विवेक,उनका विविक्त उच्चारण,वर्ण-ध्वनियों से या उनके विवेक से पूर्व समग्र रूप में विभिन्न वस्तुओं, क्रियाओं, भावों और सम्बन्धों के वाचक शब्दों का निर्माण,वाक्य विन्यास का विकास,व्याकरण शब्दों के निर्माण के सांस्कृतिक सूत्र,शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ,शब्दों की भाव-भंगिमाओं,उनकी अर्थ-सम्पत्ति और अभिव्यंजना-शक्ति का विकास, लिपि का सापेक्ष सौन्दर्य आदि पक्षों को प्रमुख मानकर परिगणित किया जा सकता है।

मनुष्य और उसकी भाषा का जन्म लाखों वर्ष पहले हुआ होगा किन्तु मनुष्य और उसकी भाषा का ज्ञात इतिहास दस हजार वर्ष से अधिक का नहीं माना जाता है। इस इतिहास की इतनी कम अवधि होना आश्चर्य की बात है। इस अवधि से यही अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य को संरक्षणीय भाषा एवं लिपि का आविष्कार एवं विकास करने में बहुत समय लगा तथा वह इस प्रयत्न में अपने लम्बे इतिहास के बहुत पिछले चरणों में ही सफल हो सका। इस विलम्ब का कारण यह भी हो सकता है कि उपलब्ध भाषाओं की विविक्त वर्ण-ध्वनियों के उच्चारण तथा भाषा विधान के नियमों को धारण करने योग्य स्नायु-तंत्र को विकसित करने में आदिम मनुष्य को बहुत समय लगा हो शायद मनुष्य की भाषा और उसके भाषिक स्नायु-तंत्र का विकास अत्यन्त मन्दगति से एक दूसरे के सहयोग से हुआ है। विकास की चरम अवस्था में आकर मनुष्य के मस्तिष्क और मुख के भाषिक स्नायु-तंत्र कुछ स्थिर हो गये तथा भाषा का विकास अर्थ,अभिव्यक्ति और साहित्य की दिशाओं में होने लगा।" विकासवाद की वैज्ञानिक खोजों से यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य के मस्तिष्क का वाणी केन्द्र सबसे पीछे विकसित हुआ है तथा जहाँ अन्य संवेदनाओं के मस्तिष्क में

दो-दो केन्द्र हैं वहाँ वाणी केन्द्र एक ही है।"[1] भाषा के उपलब्ध इतिहास की अल्प अवधि भी वाणी-केन्द्र के विलम्बित विकास का समर्थन करती है।

(ख) भाषा की ध्वनियों के उच्चारण में संस्कृति का योगदान

भाषा के उपलब्ध इतिहास में विभिन्न भाषाओं के जो रूप मिलते हैं उनमें अधिकांश शब्द विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं। कुछ भाषाओं में कुछ मिलते-जुलते शब्द मिलते हैं किन्तु सभी भाषाओं की मूल वर्ण-ध्वनियों में बहुत समानता है। अनेक स्वरों और व्यंजनों की ध्वनियाँ अधिकांश भाषाओं में मिलती हैं इन ध्वनियों के मूल रूप समान हैं। देश,जलवायु आदि के प्रभाव और मानवीय प्रयत्न से इनके उच्चारण की भंगिमाएँ विभिन्न भाषाओं में कुछ भिन्न हो गई हैं। इसी प्रभाव तथा प्रयत्न के कारण कुछ भाषाओं में अन्य भाषाओं से भिन्न ध्वनियाँ भी पाई जाती हैं।

भाषा की ध्वनियों का उच्चारण मुख में स्थित उच्चारण संस्थानों के प्रयत्न से होता है। मस्तिष्क के वाणी केन्द्र से इन उच्चारण संस्थानों का संबंध है। मुख और मस्तिष्क शरीर के अंग हैं। शरीर एक प्राकृतिक संस्थान है। दर्शन भी शरीर को पाँच तत्वों से निर्मित मानता है। शरीर के प्राकृतिक होने से भाषा की ध्वनियाँ भी प्राकृतिक हैं। स्वरों और व्यंजनो के जिन विशिष्ट रूपों में ये ध्वनियाँ भाषाओं में मिलती हैं उन विशिष्ट रूपों में ये न पशुओं में मिलती हैं न भौतिक पदार्थों के संघर्ष से उत्पन्न की जा सकती हैं। मनुष्य निर्मित संगीत के वाद्य यंत्रों में भी ये ध्वनियाँ नहीं निकल सकतीं। संगीत के स्वर भाषा के स्वरों से भिन्न हैं। व्यंजन ध्वनियाँ वाद्य यंत्रों से नहीं निकल सकतीं। **आ,मा** जैसी कण्ठ्य व ओष्ठ्य ध्वनियाँ कुछ पशु बोल सकते हों किन्तु अपने विशेष और विविक्त रूपों में मनुष्य की भाषा की ध्वनियों के रूप विशिष्ट हैं।[2] अपनी विशेषता के कारण ये केवल मनुष्य की विभूति हैं। मनुष्य ही इन ध्वनियों को विशिष्ट और विविक्त रूप में उत्पन्न कर सकते हैं तथा मनुष्य ही इनका विवेकपूर्ण ग्रहण कर सकते हैं। पशुओं को हम जिन नामों से पुकारते हैं,वे उन नामों के स्वरों विशेषत: व्यंजनों की ध्वनियों को स्पष्ट रूप में ग्रहण नहीं करते अपितु वे उन नामों के विधायक वर्णों की ध्वनि से उत्पन्न संगीत-तुल्य ध्वनि लहरी से प्रेरित होते हैं।

अत: मुख और मस्तिष्क के जैविक संस्थानों के प्रयत्न से उत्पाद्य होने के कारण भाषा की ध्वनियाँ प्राकृतिक कही जा सकती हैं। सामान्यता प्रकृति का

लक्षण है। अनेक भाषाओं में ये ध्वनियाँ समान रूप में मिलती हैं इससे भी इन ध्वनियों की प्राकृतिकता प्रमाणित होती है किन्तु इन ध्वनियों के अनेक स्वरों और व्यंजनों के रूप में मिलने वाले भेद शायद पूर्णत: प्राकृतिक नहीं हैं अर्थात् ये पूर्णत: मनुष्य के शारीरिक विन्यास की सहज प्रवृत्ति से प्रसूत नहीं हैं। शैशव से ही माता,पिता,परिवार,समाज से अलग हो जाने वाले पशु-पालित बालक बड़े होकर इन ध्वनियों का विविक्त उच्चारण नहीं कर सकते। भाषा का आदिम इतिहास और व्यक्ति के जीवन के इतिहास दोनों में इन वर्ण-ध्वनियों तथा इनसे निर्मित शब्दों के स्फुटन के पीछे मस्तिष्क और मुख के उच्चारण संस्थानों की विकास्य क्षमता और परिष्कार्य कुशलता के साथ सामाजिक समात्मभाव एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्रबल योग दिखाई देता है। विभिन्न स्वरों और व्यंजनों की विविक्त वर्ण-ध्वनियों का स्फोट न जाने कितने युगों के निरन्तर प्रयत्नों के प्राकृतिक संघर्ष में समात्मभाव के वर्धमान योग से हुआ है। यह समात्मभाव स्वयं काम, संभोग, वियोग,वात्सल्य,दाम्पत्य आदि की वर्धमान प्रेरणाओं से युगों में इतना समृद्ध हुआ होगा कि पारस्परिक आलाप के द्वारा चर्चित होने के लिए वह वर्णों और शब्दों की भाषा के समर्थ माध्यम को प्रेरित कर सका। इस प्रकार मानवीय भाषा की समस्त ध्वनियों का उच्चारण पूर्णत: प्राकृतिक नहीं है इस प्रक्रिया में मानवीय अध्यवसाय होने से संस्कृति का योगदान सिद्ध होता है।

(ग) भाषा के अभ्युदय और विकास में संस्कृति का योगदान

विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग सीमित समाजों में विभिन्न भाषाओं का विकास हुआ होगा। वर्ण-ध्वनियों में शारीरिक समानता के कारण बहुत कुछ साम्य होते हुए भी विभिन्न भाषाओं में समान पदार्थों,भावों,क्रियाओं आदि के लिए अलग-अलग शब्द रचे गये। कुछ भाषाओं में कुछ समान शब्द मिलते हैं जिसका कारण भाषाओं की पारिवारिक एकता या विभिन्न समाजों का भाषागत आदान-प्रदान होगा। भाषाओं के अधिकांश शब्द भिन्न-भिन्न हैं,भिन्नता का कारण मनुष्यों के भाषा निर्माण करने वाले संकल्प की स्वतंत्रता है। अधिकांश शब्द एक व्यावहारिक संयोग एवं रूढ़ि के रूप में ही निर्मित एवं प्रचलित हुए होंगे किन्तु इन शब्दों के निर्माण के रचनात्मक संकल्पो को स्वतंत्र अत: सांस्कृतिक मानना होगा। इन संकल्पों की स्वतंत्रता से ही भाषाओं के विभिन्न शब्द विविध रूपों में रचित हुए हैं।

यह संकल्प की स्वतंत्रता तथा इससे फलित होने वाली समान पदार्थों

के वाचक शब्दों की विभिन्न भाषाओं में प्राप्त भिन्नता भाषा के अभ्युदय और विकास में संस्कृति के योगदान का मूल प्रमाण है। व्यावहारिकता,उपयोगिता के शब्दों के अतिरिक्त भावों के व्यंजक शब्द भी बने होंगे। भाषा के साथ-साथ या सम्भवत: मुखर भाषा से पहले कुछ जीवन्त सांस्कृतिक रूपों का भी सृजन हुआ होगा। काम, दाम्पत्य,वात्सल्य आदि के आत्मिक बीजों से संस्कृति के ये आदिम रूप अंकुरित हुए होंगे। भारोपीय विशाल भाषा-परिवार की भाषाओं में माता-पिता आदि के वाचक समान शब्दों की उपस्थिति से यही संकेत मिलता है कि दाम्पत्य की सामाजिक भूमिका में काममूलक आत्मिकता की प्रेरणा से संस्कृति और भाषा का साथ-साथ विकास हुआ होगा। दोनों ने परस्पर विकास में प्रेरणा दी होगी।

सामान्यता,नियति,द्वैत आदि प्रकृति के लक्षण हैं। इनसे भिन्न विशिष्टता, स्वतंत्रता,समात्मभाव का अद्वैत,सामाजिकता,परम्परा,समृद्धि,सौन्दर्य,आनन्द आदि संस्कृति के लक्षण हैं। जीवन में संस्कृति के ये लक्षण प्राकृतिक साधनों के आधारों में ही चरितार्थ होते हैं। **संस्कृति** प्राकृतिक साधनों में उपर्युक्त लक्षणों का समन्वय है। इसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी उच्चारण-संस्थानों और वर्ण-ध्वनियों के सामान्य प्राकृतिक आधारों में उपर्युक्त सांस्कृतिक लक्षण समवेत हुए होंगे। पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में स्फुरित समात्मभाव के अद्वैत की आत्मिक प्रेरणा से स्वतंत्र संकल्पों द्वारा विभिन्न समाजों में समान पदार्थों आदि के लिए अलग-अलग शब्दों की रचना हुई। इसी आत्मिक प्रेरणा से जीवन में विविध सांस्कृतिक भाव उदित हुए तथा इन भावों के व्यंजना की शक्ति शब्दों में समाहित हुई। जीवन के सांस्कृतिक सन्दर्भ शब्दों में समारूढ़ हुए। वाक्यों के विन्यास,शब्दों के रूप उनके प्रयोग आदि में भी भाषा के सांस्कृतिक संस्कार प्रकट हुए। इनके निर्माण में भी संस्कृति ने योगदान दिया।

शब्दों के रूपों को संबंधों के अनुसार नियमित करने में बुद्धि का सहयोग रहा होगा। स्वतंत्र होने से संकल्प असंख्य रचनाएँ कर सकता है इनके विशिष्ट होने से इनकी व्यवस्था व प्रयोग में कठिनाई होगी जैसी कि चीनी भाषा में है। बुद्धि सांस्कृतिक संकल्प की विशिष्ट रचनाओं में मर्यादाओं का अनुष्ठान करती है। स्वतंत्र विशेषों को कुछ सामान्य नियमों के अनुसार व्यवस्थित कर सामान्य और विशेषों के संतुलन के द्वारा सांस्कृतिक कर्तृत्व को व्यावहारिक एवं सफल बनाती है। बुद्धि का कर्तृत्व सांस्कृतिक रचनाओं में कलाओं की अपेक्षा भाषा में

अधिक दिखाई देता है।" बुद्धि के योग से भाषा लोक व्यवहार,विज्ञान,दर्शन, काव्य आदि का लचीला माध्यम बन सकी। "[3] बुद्धि की स्थिति प्रकृति और संस्कृति के बीच मध्यस्थ की है। जीवन में प्रकृति के उ-ाम वेग को बुद्धि नियंत्रित करती है। वह सांस्कृतिक रचनाओं के अनन्त विशेषों को नियमों की सामान्यता से संक्षिप्त कर संस्कृति को मर्यादित एवं व्यवहार्य बनाती है।

भाषा का अभ्युदय और विकास आत्मिक प्रेरणा और प्राकृतिक प्रवृत्ति के परस्पर वर्धमान सहयोग से हुआ है। आत्मिक प्रेरणा से पोषित सांस्कृतिक संकल्प की स्वतंत्रता से विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्दों की रचना हुई तथा शब्दों के विशिष्ट सन्दर्भ भी मूल अर्थ में समाहित हुए। भाषा का ध्वनि पक्ष मुख्यत: प्राकृतिक है। वर्णों और शब्दों की विशिष्टता आत्मभाव से प्रेरित सांस्कृतिक संकल्प की स्वतंत्रता से प्रसूत है। वर्ण-ध्वनियों के विविक्त रूपों के निर्धारण मे आत्मिक प्रेरणा,सांस्कृतिक संकल्प और बौद्धिक व्यवस्था का विशेष योग है। शब्द-रूपों,वाक्य-विन्यासों आदि की सरणियों के व्यवस्थापन में बुद्धि का उपयोग अधिक रहा है किन्तु शब्दों के विशेष भावों एवं सन्दर्भों के सूत्र मुख्यत: आत्मिक एवं सांस्कृतिक हैं। भाषा के रूप विधान में प्रकृति की अपेक्षा बुद्धि तत्व अधिक है। साहित्य का विषय तत्व भी बुद्धि प्रदत्त है यद्यपि साहित्य के माध्यम के रूप में भाषा की रूप रचना आत्मिक प्रेरणा और सांस्कृतिक संकल्प की शक्ति से होती है। व्याकरण की बौद्धिक व्यवस्था को सांस्कृतिक सन्दर्भ ही सुशोभित करते हैं।

भाषा का प्राकृतिक आधार सीमित है। व्याकरण की बौद्धिक व्यवस्था उससे अधिक किन्तु वर्णों एवं शब्दों की सांस्कृतिक भाव-सम्पत्ति की तुलना में बहुत कम है। भाव-विभूति,अर्थ-वैशिष्ट्य,अर्थ-वैभव,अर्थ-सन्दर्भ,भाव-सन्दर्भ, अभिव्यंजना शक्ति आदि की दृष्टि से भाषा की रूप-रचना सांस्कृतिक अधिक है। सांस्कृतिक परम्परा रूढ़ि का रूप ग्रहण कर लेती है। रूढ़िमत परम्परा बनकर अनन्त भावी पीढ़ियों को अपनी विभूति का सौन्दर्य एवं आनन्द प्रदान करती है। सांस्कृतिक रूढ़ियाँ समाज के रत्नालंकारों की भाँति हैं जिनको युगों तक पीढ़ियाँ संरक्षण व धारण करती हैं। बौद्धिक व्यवस्थाएँ उपयोगितावादी हैं जो भाषा के व्यवहार में सुविधाएँ प्रदान करती हैं। भाषा के सांस्कृतिक संस्कार भावों और अर्थों की विशेष भंगिमाओं के द्वारा शब्दों को अलंकारों के अतिशय सौन्दर्य से

सम्पन्न बनाते हैं। सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलंकृत शब्दों के योग से ही भाषा की सांस्कृतिक प्रगति ललित साहित्य के रूप में बनी रहती है। शब्दों की संस्कृति साहित्य की संस्कृति का रूप ले लेती है।

भाषा की रूप-रचना का आधार प्राकृतिक वर्ण-ध्वनियाँ हैं। भाषा की व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक व्यवस्था का श्रेय बुद्धि को है किन्तु अपने विशिष्ट रूपों व शब्दों के विशिष्ट सौन्दर्य व सन्दर्भ की दृष्टि से भाषा की रूप-रचना को मुख्यत: सांस्कृतिक मानना होगा। संस्कृति रचनात्मक है,वह मनुष्य की रचना है। उसके रूपों में मनुष्य का कर्तृत्व सफल होता है। प्राकृतिक वर्ण-ध्वनियों की अपेक्षा, भाषा की बौद्धिक व्यवस्था में तथा इसकी तुलना में भाषाओं की विशिष्ट रूप-रचना में मनुष्य का उत्तरोत्तर वर्धमान कर्तृत्व प्रकट होता है। मनुष्य के सांस्कृतिक कर्तृत्व का स्रोत उसके आत्मिक संकल्प की स्वतंत्रता एवं विशेषता में निहित है। भाषाओं की विशिष्ट रूप-रचनाएँ सांस्कृतिक होने के कारण आत्मिक हैं तथा विपुल आत्मिक संकल्प के अनुग्रह से सांस्कृतिक हैं।

वर्ण-ध्वनियों के विविक्त उच्चारण से लेकर लिपि और साहित्य तक भाषा के अनेक रूपों में भाषा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दिखाई देती है। वर्णों की अपेक्षा शब्दों तथा उनके अर्थों एवं भावों में यह प्रभाव अधिक है। शब्दों के चलन, अर्थाभिव्यंजन,अर्थ-संप्रेषण आदि की रूढ़ि में भी सामाजिक समात्मभाव के सांस्कृतिक सूत्र विद्यमान हैं। व्यावहारिक उपयोगिता के शब्दों की अपेक्षा आत्मिक भावों के व्यंजक शब्दों में अभिव्यंजना और भाव-सम्प्रेषण की शक्ति अधिक है। भाषा के विधाताओं के सांस्कृतिक संकल्प से ही शब्दों में यह शक्ति समाई है।" सांस्कृतिक जीवन के प्रभाव से ही **माता** जैसे सरल व सहज ध्वनि से निर्मित शब्दों में भाव का सागर समाहित हो गया है।"(4) भाषा के विकास क्रम में सूक्ष्म भावों और भाव-भंगिमाओं के सूत्र शब्दों के रूपों व ध्वनियों में सम्बद्ध हो गये हैं। शब्द-बीजों और अर्थ-बीजों से अंकुरित होने वाले सघन संयुक्त शब्दों में भाव-विभूति अधिक समृद्ध हुई। सांस्कृतिक परम्परा और आचार के सन्दर्भ लक्षणा के द्वारा इस विभूति को बढ़ाते हैं। संस्कृत जैसी सांस्कृतिक भाषा में उक्त सभी प्रकार का सांस्कृतिक वैभव विपुलता से मिलता है।

" संस्कृत भाषा का पद शब्द सांस्कृतिक विभूति का उदाहरण है। इसके समान ध्वनि व समानार्थक शब्द कई भाषाओं में मिलते हैं। अंग्रेजी का **फुट** (foot) पद का विकृत रूप है। संस्कृत का **पद** शब्द दो अकारान्त व्यंजनों

से बना है जो स्वतंत्र रूप में अर्थ-वाचक हैं। सार्थक वर्ण-बीजों से निर्मित होने के कारण संस्कृत के **पद** शब्द का सांस्कृतिक वैभव और गुण अधिक है।"(5) पद शब्द से निर्मित होने में शब्दों के मूल अर्थ का विस्तार हुआ जो पद की सांस्कृतिक विभूति को बढ़ाता है।" छन्द के चरण,भक्ति के गीत,अधिकार व सम्मान की स्थिति आदि का वाचक बनकर **पद** शब्द अधिक सांस्कृतिक विभूतियुक्त हो गया। छन्दोमयी रचना के वाचक **पद्य,**विचार-स्थापन के वाचक **प्रतिपादन** चतुर्थांश वाचक **पाद** शब्द आदि के रूप में **पद** का अर्थ-विस्तार बढ़ता गया। अर्थ,भाव, संस्कार,सन्दर्भ आदि की ऐसी समृद्धि यूरोपीय भाषाओं में पद शब्द को नहीं मिली। पद-वन्दन,पितृ-पाद,गुरू-पाद,पद-रज,पदार्घ्य आदि में सांस्कृतिक **पद** शब्द को उत्कर्ष और पवित्रता का जो वरदान संस्कृत भाषा में मिला,वह अन्यत्र न मिल सका। **पद** शब्द का यह सांस्कृतिक सम्बन्ध आकस्मिक नहीं है। सभी भाषाओं के असंख्य शब्दों की प्रतिष्ठा ऐसी ही सांस्कृतिक भूमिका में हुई है किन्तु संस्कृत में शब्दों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अधिक विस्तृत है।"(6)

" संस्कृत के रस,भाव,ब्रह्म,अर्घ्य,आरती,तिलक,सौभाग्य,सत्व,श्रृंगार, मोह,माया,वात्सल्य,विनय,शील के वास्तविक पर्याय अंग्रेजी में नहीं मिलते। हिन्दी के मामा,मौसी, भाभी,नाना आदि संबंधवाचक तथा पूड़ी,पराठे,उपला आदि वस्तु वाचक शब्दों के पर्याय अंग्रेजी में नहीं हैं। "(7) क्योंकि समाज के सांस्कृतिक संस्कारों की भिन्नता के कारण शब्दों की उक्त भिन्नता भाषाओं में उत्पन्न हुई। भाषा में पर्यायवाची शब्दों की प्रचुरता होने से संस्कृत भाषा अधिक सांस्कृतिक है। समान होने पर इन शब्दों की अर्थ-भंगिमाओं में अन्तर है। " धरा, रसा, वसुधा, पृथ्वी के पर्याय हैं किन्तु अर्थ-भंगिमाएँ भिन्न हैं। धरा का संबंध लोक को धारण करने से,रसा का रसमयता से,वसुधा का रत्न,खनिज धारण से है। "(8) भाषा का अभ्युदय विकासशील आदिम समाज में अभिव्यक्ति और संप्रेषण की आकांक्षा से प्रेरित हुआ है।

(घ) लिपि के विकास में संस्कृति का योगदान

वर्ण-विवेक,शब्द-विधान और वाक्य-विन्यास के अतिरिक्त भाषा का एक लिखित अथवा लिपिबद्ध रूप भी विकसित हुआ है। ध्वनियों की श्रव्य भाषा को लिपि के दृश्यरूप में अनुदित करना भी मानव-समाज का एक महान सांस्कृतिक उद्योग है। वर्ण-विवेक,शब्द-संस्कार और वाक्य-विन्यास की भिन्नताओं की भाँति विभिन्न क्षेत्रों में विविध रूपों में लिपि का विकास हुआ है। लिपि के इन रूपों

में भी सांस्कृतिक उद्योग का कर्तृत्व और इसकी भिन्नता देखी जा सकती है। जिस प्रकार भाषा का अभ्युदय और विकास मनुष्य के सांस्कृतिक अध्यवसाय का परिणाम है उसी प्रकार लिपियों का विकास भी मनुष्य के सांस्कृतिक उद्योग से ही हुआ है। भाषा की तुलना में लिपि का विकास अधिक सांस्कृतिक है। शब्दों की व्यवस्थित भाषा से पूर्व मनुष्य पशुओं के समान कुछ सांकेतिक ध्वनियों का प्रयोग करता रहा होगा, ये मनुष्य की आदिम भाषा थी किन्तु उत्तरकालीन भाषा पशु-भाषा से नितान्त भिन्न है फिर भाषा के लिए मनुष्य को ध्वनि का प्राकृतिक यंत्र और आधार मिला है।

लिपि के लिए मनुष्य को कोई प्राकृतिक आधार नहीं मिला। लिपि का संबंध मुख से नहीं दृष्टि और हाथों से है। भाषा के लिए मनुष्य को कोई प्राकृतिक माध्यम नहीं चाहिए जबकि लिपि के लिए प्राकृतिक उपकरण चाहिए इसलिए लिपि का आविष्कार व प्रयोग भाषा की अपेक्षा कठिन है। लिपि के लिए अधिक प्रबल सांस्कृतिक संकल्प जरूरी हैं अत: लिपि का आविष्कार तथा विकास सभी रूपों में सांस्कृतिक है।" ये चित्र कला के कुल की कला है। यह संक्षिप्त व सामान्य आकारों की रचना है,जबकि चित्रकला विशेष आकारों का अंकन है।"[9] इस प्रकार लिपि के आविष्कार एवं विकास में संस्कृति का ही योग है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. गुणानन्द जुयाल-हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन,पृष्ठ संख्या 40
2. डॉ.राममनोहर लोहिया-भाषा,पृष्ठ संख्या 37
3. डॉ.सरनाम सिंह अरुण-विचारकण,पृष्ठ संख्या 54
4. डॉ.सरनाम सिंह अरुण-भाव-कण,पृष्ठ संख्या 68
5. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 74
6. वही,पृष्ठ संख्या 75
7. वही,पृष्ठ संख्या 76
8. वही,पृष्ठ संख्या 78
9. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-प्राचीन लिपि माला,पृष्ठ संख्या 48

अध्याय-3

भाषा-विज्ञान संबंधी कतिपय जिज्ञासाएँ

भाषा-विज्ञान की कुछ ऐसी मूल जिज्ञासाओं का विवेचन आवश्यक है, जिनके संबंध में प्रचलित भाषा-विज्ञान में आरम्भ से ही कुछ प्रमाद रहा है तथा जिनके स्पष्ट होने से भाषा-विज्ञान की कई मान्यताएँ संदिग्ध हो जायेंगी और भाषाओं के अध्ययन एवं सम्बन्धों के विषय में कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपनाने होंगे। इन जिज्ञासाओं का संबंध वर्ण-विवेक,वर्णानुसार लिपि का विधान,वर्णमाला, शब्द-रूप,वाक्य-विन्यास,व्याकरण आदि भाषा के उन मूल विषयों से है जिनके अध्ययन से भाषा-विज्ञान के भव्य प्रासाद बने हैं किन्तु इन प्रश्न-सूत्रों में भाषा के अभ्युदय तथा भाषाओं के स्वरूप के संबंध में ऐसी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की जायेंगी जिनको भाषा-विज्ञान के इतिहास में आरम्भ से ही प्रोत्साहित नहीं किया गया। इन प्रश्न-सूत्रों और जिज्ञासाओं का संबंध विभिन्न भाषाओं में प्राप्त होने वाली विभिन्नताओं से अधिक है। विभिन्न भाषाओं के वर्णों,शब्दों की ध्वनियों में साम्य होते हुए भी जो अन्तर है उनका तथा शब्दों,रूपों एवं वाक्य-विधान की भिन्नताओं के संबंध में सांस्कृतिक तर्क उठाकर इन भिन्नताओं के सांस्कृतिक कारणों और परिणामों का अनुसंधान प्रचलित भाषा-विज्ञान में नहीं किया गया है अत: आरम्भ में ही इन भिन्नताओं के संबंध में कुछ मूल प्रश्न उठाकर इन प्रश्नों के सूत्र से भाषा-विज्ञान के अध्ययन की सांस्कृतिक दिशाओं का अनुसंधान किया जायेगा।

(क) भाषा का उद्गम और सांस्कृतिक परिस्थितियों से संबंध

सबसे पहला प्रश्न भाषा के मानवीय और उपलब्ध रूप के उद्गम एवं अभ्युदय की सांस्कृतिक परिस्थिति से संबंध रखता है। इस परिस्थिति में आदिम मनुष्य का वह सामाजिक अथवा पारिवारिक संबंध और आत्मिक भाव सम्मिलित है जिसकी भूमिका में भाषा का मानवीय रूप स्फुट हुआ। प्रश्न ये है कि मानवीय संबंध और भाव की किस भूमिका में भाषा के मानवीय रूप का स्फोट हुआ ? इस प्रश्न से सम्बन्धित एक उपप्रश्न ये है कि पशुओं और मनुष्यों की भाषा में क्या अन्तर है तथा मानवीय भाषा की विशेषताओं के सहित मनुष्य की भाषाओं का अभ्युदय जीवन,समाज और भाव के किस क्षितिज पर हुआ ? परिस्थिति, संबंध, भाव, आकांक्षा आदि की दृष्टि से इस क्षितिज की मुख्य प्रकाश रेखाएँ

कौन सी हैं ?

भाषा की उत्पत्ति के जितने सिद्धान्त भाषा-विज्ञान में प्रतिपादित किये जाते हैं उनमें कोई भी सिद्धान्त मानवीय भाषा की विशेषताओं को न ध्यान में रखता है और न भाषाओं में उनके अभ्युदय की व्याख्या करता है। वे सिद्धान्त ध्वनि से संबंधित हैं तथा मानवीय भाषाओं की ध्वनियों का पशुओं की ध्वनियों से भेद नहीं करते। मनुष्य एक जीव है अत: वह भी पशुओं के समान है। अधिकांश पशु कुछ ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। वे अपने व्यवहार में संकेतों के रूप में ये ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं किन्तु पशुओं की ध्वनियाँ वर्णों या वर्ण-ध्वनियों से निर्मित शब्दों एवं वाक्यों के रूप में नहीं होतीं। उन ध्वनियों के भेद संगीत के स्वरग्रामों के भेद के समान हैं,जिनमें वर्ण-ध्वनियाँ मानवीय भाषा की ध्वनियों के समान विविक्त नहीं होतीं तथा जिनमें समग्र स्वरग्रामों की तीव्रता,लय आदि अभिप्राय का संकेत करती हैं। समस्त मानवीय भाषाओं में स्वरों और व्यंजनो की ध्वनियाँ न्यूनाधिक स्पष्ट रूप में मिलती हैं। इन ध्वनियों से निर्मित शब्दों और शब्दों से निर्मित वाक्यों से ही सभी भाषाओं का कलेवर बना है।

जीव होने के नाते मनुष्य भी अत्यन्त आदिम काल में पशुओं के समान स्वर-ग्रामों का संकेतों के रूप में प्रयोग करता होगा किन्तु दाम्पत्य,परिवार,समाज-संबंध और भाव की किस भूमिका में इन स्वर-ग्रामों में वर्ण-ध्वनियों या शब्द-ध्वनियों का स्फुटन हुआ। इन ध्वनियों के संयोगों से भाषा के मानवीय रूप के विकास की आत्मिक,मानसिक,सामाजिक और व्यावहारिक परिस्थितियाँ क्या रही होंगी ? ये कुछ मौलिक प्रश्न हैं।

इस प्रश्न पर समुचित विचार करने के लिए हमें मनुष्य और पशु के शरीर-विन्यास,मस्तिष्क-यंत्र,जीवन और समाज की भिन्नताओं को समझना होगा। पशुओं और मनुष्यों दोनों की भाषा मुखर ध्वनि है जो मुख के उच्चारण-यंत्रों से उत्पन्न होती है जिसमें मस्तिष्क के स्नायु संस्थान का भी सहयोग है। छोटे-छोटे कीटाणु भी कुछ नाद करते हैं किन्तु पशु-पक्षियों की ध्वनि प्रकट है। मनुष्य की भाँति पशु-पक्षी भी निष्प्रयोजन नाद करते होंगे किन्तु अनेक पशु-पक्षियों में ध्वनि प्रयोग का प्रयोजन दिखाई देता है। दो प्रयोजन स्पष्ट हैं एक तो सामूहिक सुरक्षा अथवा उल्लास का तथा दूसरा काम-संदर्भ में मादा के आह्वाहन का। सामूहिक स्वर की प्रवृत्ति में पक्षियों का करलव प्रसिद्ध है। पशुओं का शब्द काममूलक अधिक है। शृगाल (सियार)व श्वान(कुत्ता)के समान जहाँ वह सामूहिक है,वहाँ

काममूलक नहीं निष्प्रयोजन प्रलाप सा लगता है।

काममूलक और सामूहिक दोनों ही रूपों में पशु-पक्षियों की ध्वनि का रूप सामाजिक है। प्रयोजन की एकता,पारस्परिकता आदि में इस सामाजिकता में आत्मिक अद्वैत का अन्तर्भाव रहता है। इससे प्रकट होता है कि आत्मिक अद्वैत की स्थिति में भी जीवों में वाणी का स्फोट हुआ है तथा इसी आत्मिक अद्वैत के भाव के अभ्युदय के साथ-साथ मनुष्य समाजों में भाषा का विकास हुआ है। मनुष्य के मुखस्थ ध्वनि-यंत्र तथा मस्तिष्क के स्नायु-तंत्र पशुओं की तुलना में अधिक विकसित हैं अत: मनुष्य अधिक विविध ध्वनियों का उत्पादन करने में समर्थ है उसमें बुद्धि का विकास भी अधिक हुआ है। बुद्धि,विवेक और विश्लेषण की सामर्थ्य है अत: मनुष्य बुद्धि के योग से भाषा के ध्वनि-प्रवाह में वर्णों व शब्दों का विश्लेषण तथा भाषा के व्याकरण के विकास में समर्थ हुआ है। वर्ण-ध्वनियाँ,शब्दों और व्याकरण-व्यवस्थाओं की विविधता ही पशुओं की तुलना में मनुष्य-भाषा की विशेषता है।

आदिम काल में मनुष्य विशृंखल व्यक्तियों के रूप में रहे होंगे। " सुरक्षा के लिए पहले स्त्रियों में सामूहिक वृत्ति का विकास हुआ होगा। इसका प्रमाण भारतीय पुराण-इतिहास में देवी-वृत्तों में मिलते हैं।"(1) पुरुषों में काम और दाम्पत्य के सूत्र से सामूहिक भाव का अभ्युदय हुआ होगा और समाज बने होंगे। काम की प्रेरणा से स्त्रियों का अपहरण कर दाम्पत्य के स्थायित्व और युवक सन्तान द्वारा सुरक्षा की संभावना से शायद पहले असुर समाज में संगठन का विकास हुआ होगा। फलाहार, अन्नाहार,कृषि आदि से भारतवर्ष में मानवीय भावनाओं के उत्कर्ष से प्रेरित मनुष्य वर्ग में दाम्पत्य,वात्सल्य के संस्कारों से भावपूर्ण सामाजिकता का विकास हुआ होगा। इसी सामाजिक भूमिका में संस्कृति की फैलती हुई लताओं पर मानवीय भाषा के प्रथम पुष्प खिले होंगे।

अपेक्षाकृत स्थायी दाम्पत्य की आकांक्षाओं और भावनाओं के द्वारा काम के आदि सूत्र का भाष्य रचने की कामना में शायद भाषा के प्रथम अंकुर उगे होंगे। इसके पूर्व भी विशृंखल मानव समाज में वात्सल्य की अपेक्षाओं में मातृ-भाषा के उद्गम की आशा की जा सकती है किन्तु जैसा की आज के लालन की स्थिति से भी प्रकट होता है यह आदिम मातृभाषा,वर्णों,शब्दों आदि की ध्वनियों की दृष्टि से इतनी स्पष्ट नहीं रही होगी। शिशु के साथ संबंध में विविक्त वर्णों और शब्दों की स्पष्ट भाषा के उदय की अपेक्षा एवं संभावना नहीं होती अत:

दाम्पत्य के कामसूत्र से ही भाषा के अभ्युदय का प्रारम्भ मानना उचित है। काम का अद्वैत भी दाम्पत्य में अधिक घनिष्ठ व परिष्कृत होने लगता है।" दाम्पत्य के इसी बीज से भाषा का कल्पवन विकसित हुआ है। दाम्पत्य में प्रेम,वात्सल्य के साथ-साथ सामाजिक भावना और जीवन एवं संस्कृति के बढ़ते हुए भावों के साथ भाषा की मंजरियाँ फूली-फली हैं। प्रारम्भ में भाषा में आवश्यकता व उपभोग का प्रभाव अधिक रहा होगा किन्तु इसके साथ-साथ संबंधों,भावों आदि के सांस्कृतिक शब्दों की सृष्टि भी बढ़ी होगी। "(2)

इस प्रकार काम और दाम्पत्य के सूत्र से सामाजिक संबंधों एवं व्यावहारिक प्रयोजनों की परिस्थितियों में आत्मिक अद्वैत की मूल प्रेरणा तथा सांस्कृतिक भावों की स्फूर्ति से बुद्धि के विवेकशील सहयोग के द्वारा वर्णों,शब्दों और व्याकरण की मानवीय भाषा का उद्गम एवं अभ्युदय हुआ है।

(ख) मनुष्य की सामाजिकता और भाषा की उन्नति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है क्योंकि वह समाज में रहता है। मनुष्य अकेला अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता है उसे किसी न किसी रूप में दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है। आदिम अवस्था में वह विश्रृंखल रूप में रहता था। जंगली हिंसक जानवरों से सुरक्षा के कारण वह संगठित होकर समाज में रहने लगा। उसने संकेतों की भाषा सीखी। सामाजिक संबंध,काम,दाम्पत्य, वात्सल्य आदि भावों के सम्प्रेषण की आवश्यकता हुई उसी के अनुसार भाषा का विकास होता गया। आज कई भाषाएँ अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी हैं तो कई विकासशील हैं इसका मूल कारण मनुष्य की सामाजिक स्थिति है। जैसे-जैसे समाज में नई-नई वस्तुओं का प्रारम्भ होता है वैसे-वैसे भाषा के नये पदार्थ बोधक शब्द गढ़ लिये जाते हैं। मानव समाज से ही भाषा का उद्गम हुआ। आज प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान,कला,दर्शन एवं विविध विषयों के रूप में भाषा अपनी पूर्ण उन्नति पर है। भाषा आज प्रत्येक संश्लिष्ट विचार को धारण व सम्प्रेषित करने में समर्थ है। आज मानव अपने भावों और विचारों को शत-प्रतिशत शुद्धता के साथ बड़ी आसानी से प्रकट करने में समर्थ है। ये भाषा की उन्नति का ही परिणाम है। भाषा के बिना आज मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानव की समाज व्यवस्था में जैसे-जैसे नवीन विचारों व वस्तुओं का आविष्कार हुआ **आवश्यकता आविष्कार की जननी है** के सिद्धान्त के अनुसार वैसे-वैसे भाषा का शब्दकोश बढ़ता गया इस प्रकार आज भाषा अपने चरम उत्कर्ष

पर पहुँच चुकी है।

(ग) वर्ण-ध्वनियों से संस्कृति का संबंध

क्या सभी मुख्य भाषाओं या संस्कृत के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय भाषाओं में वर्ण-ध्वनियों और वर्णमाला के क्रम एवं उच्चारण का ऐसा स्पष्ट रूप मिलता है,जैसाकि संस्कृत में मिलता है ? भाषा-विज्ञान के ध्वनि-विवेचनों में विभिन्न भाषाओं में लगभग समान ध्वनियों को समान मानकर उनका विवेचन किया जाता है। भाषा-विज्ञानों की ध्वनि मीमांसा में विभिन्न वर्ण-ध्वनियों की उस विविक्तता, स्पष्टता, वर्णमाला में उनके वैज्ञानिक क्रम एवं वर्णानुरूप उच्चारण को महत्व नहीं दिया जाता।

वर्ण-ध्वनियों की ये विशेषताएँ शायद संस्कृत को छोड़कर अन्य भारोपीय भाषाओं में नहीं मिलतीं। अन्य भाषाओं में वर्णमाला का क्रम वैज्ञानिक नहीं है जैसा कि संस्कृत में है और न वर्णों का उच्चारण वर्णमाला में अलग वर्ण-ध्वनि के रूप में किया जाता है।" ग्रीक,अरबी,अंग्रेजी आदि में वर्णमाला में वर्णों का उच्चारण शब्दों के समान होता है जैसे अल्फा,बीटा,गामा,एच,एल आदि "[3] यूरोपीय भाषाओं में भी वर्ण-ध्वनियों का उच्चारण ऐसा नियमित नहीं है जैसा कि संस्कृत में है। अंग्रेजी में सर्वाधिक अनियमितता है। संस्कृत भाषा सर्वाधिक सांस्कृतिक है। किन्हीं प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक कारणों से संस्कृत में ही वर्ण-ध्वनियों का स्पष्ट विवेक और उच्चारण सम्भव हो सका तथा पश्चिम की ओर बढ़ते हुए संस्कृत के प्रभाव से अरब और यूरोप की भाषाओं पर वर्ण-व्यवस्था का आरोपण किया गया। शाब्दिक अवस्था में झूलती हुई इन भाषाओं पर वर्ण-व्यवस्था का आरोपण पूर्णत: संभव न होने के कारण इनकी वर्णात्मक व्यवस्था में अनियमितता रही जो विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में विभिन्न रूपों में मिलती है।

वर्ण-ध्वनियों का विवेक भाषा की एक प्रयत्नजन्य व्यवस्था है जो बड़ी कठिनाई से सम्भव हो सकी होगी। यद्यपि विभिन्न वर्ण-ध्वनियों का उच्चारण विभिन्न मुख-संस्थानों से सम्भव है और इसी संभावना के द्वारा वर्ण-ध्वनियाँ भाषा का आधार बन सकीं फिर भी मनुष्य की वाणी एक निरन्तर व संलिष्ट ध्वनि-धारा के रूप में प्रवाहित होती है। उस धारा में समग्र रूप में इकाइयों का विभाजन कठिन है। विश्लेषण में यह विभाजन कर लेने के बाद भी भाषा के व्यावहारिक उच्चारण में इस विभाजन का निर्वाह कठिन है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में वर्ण शब्दों में और शब्द वाक्यों की समग्र धारा में डूबते जाते हैं। फ्रेंच भाषा

में ध्वनि-धारा अधिक तीव्र है। वर्णों की ही नहीं शब्दों की भी इकाइयाँ वाक्यों के ध्वनि प्रवाह में निमग्न होकर संगीत की लय के समान एक समग्र लय का निर्माण करती हैं। इसके विपरीत वैदिक संस्कृत के उच्चारण की लय विलम्बित है। उसमें शब्दों के बुदबुदों के ध्वनि-द्वीप प्रकट रहते हैं। इसका कारण संस्कृत भाषा की सांस्कृतिक समृद्धता है।" फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाओं के शब्द धारा की तंरगों के समान प्रवाह में अलक्ष्य रूप से मिले रहते हैं। वैदिक उच्चारण में शब्द ही नहीं,शब्दों में वर्ण भी पृथक रहते हैं। वाक्य की समग्रता का निर्माण करते हुए भी वर्ण ध्वनि-धारा में निमग्न नहीं होते। इसका कारण संस्कृत भाषा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की छाया है। "(4)

(घ) शब्दों के विविध रूपों की रचना और संस्कृति

भाषा स्वयं में एक सांस्कृतिक उपलब्धि है। वर्ण-ध्वनियों का आधार प्राकृतिक है अत: उनका रूप सभी भाषाओं में बहुत कुछ समान है किन्तु शब्दों व उसके अनेक रूपों की रचना अधिक सांस्कृतिक है। शब्दों के विविध रूपों की रचना एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। ये रूप एक मूल शब्द से विविध व्याकरणगत सन्दर्भों में बनते हैं। योगात्मक भाषाओं के विभिन्न विभक्तियों तथा लकारों में बनने वाले रूप इसके उदाहरण हैं। उपसर्गों व प्रत्ययों के योग से भी शब्दों के विविध रूप बनते हैं। इन रूपों में अर्थ का भी परिवर्तन हो जाता है।" प्रभाव,पराभव, अनुभव, विभव इसके उदाहरण हैं।"(5)

सभी भाषाओं में शब्दों के रूप निर्माण की प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं। यह भाषा के व्यवहार और व्याकरण की एक सामान्य प्रणाली है। सभी भाषाओं में शब्द-रूपों की यह समृद्धि समान मात्रा में नहीं मिलती। संस्कृत भाषा में शब्द रूपों की यह समृद्धि अधिक दिखाई देती है। इस समृद्धि का सांस्कृतिक महत्व हो सकता है किन्तु अनेक भाषाओं में जो शब्द समान रूप में मिलते हैं उन शब्दों के सन्दर्भ में इस समृद्धि का सांस्कृतिक तात्पर्य अत्यन्त महत्वपूर्ण व विचारणीय है। इन शब्दों के आधार पर ही भाषा-परिवारों की स्थापना व आदिम भारोपीय भाषाओं की कल्पना की गई।

" **भू** और **पद** दो शब्दों को हम उदाहरणार्थ ले सकते हैं। इन मूल पदों से बनने वाले जितने रूप संस्कृत भाषा में मिलते हैं उतने शायद ही किसी अन्य भाषा में मिल सकेंगे। संस्कृत में इन मूल पदों से बनने वाले रूपों में अर्थ

का भेद अधिक हुआ है मूलपद का अर्द्धसूत्र बने रहने पर भी नवीन,विशेष और समृद्ध भावों का उत्कर्ष इन रूपान्तरों में हुआ है। भाव,अनुभव,विभव, पराभव आदि में **सत्ता** का सूत्र भी शेष है किन्तु नवीन आत्मिक,मानसिक, आर्थिक और सामाजिक सन्दर्भों की अर्थ-गरिमा इनमें समाहित हुई है। "(6) " पद,पाद, पद्य, प्रतिपादन आदि रूपों में **पद** शब्द के मूल अर्थ में नये भावों व सांस्कृतिक सन्दर्भों का समावेश हुआ है। इन मूल शब्दों से यूरोपीय भाषाओं में न तो इतने विभिन्न रूप बने और न उनमें इतने अर्थ-भेदों का समावेश हुआ।"(7)

इस प्रकार रूप और भाव की यह समृद्धि संस्कृत की विशेषता है। सामान्य रूप से यह समृद्धि ही संस्कृति का लक्षण है। रूपों और भावों की समृद्धि में ही संस्कृति फलित होती है अत: शब्दों के विविध रूपों की रचना का संस्कृति से घनिष्ठ संबंध है। आत्मिक संकल्प की शक्ति इन रूपों व भावों की समृद्धि की प्रेरणा है। प्राकृतिक,व्यावहारिक और बौद्धिक होने की अपेक्षा यह समृद्धि आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक अधिक है। जो शब्द जिस भाषा में अधिक समृद्ध रूपों एवं सांस्कृतिक भावों से युक्त मिलते हैं उनको उसी भाषा की मौलिक सम्पत्ति मानना होगा। इस कसौटी के अनुसार **भू ,पद** आदि शब्द संस्कृत के मौलिक शब्द सिद्ध होंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा-संचार की दिशा भारत से पश्चिम की ओर सिद्ध होती है।

" इन्द्र,मित्र आदि देवताओं के नाम हित्ती भाषा की मुद्राओं पर मिलते हैं। अनेक भाषाओं में पितृ,मातृ,भ्रातृ के समान शब्द मिलते हैं। शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ भी उनकी भाव समृद्धि के सूचक हैं। इस सांस्कृतिक भाव समृद्धि के आधार पर अनेक भाषाओं में मिलने वाले शब्दों की मूल जन्मभूमि का निर्णय हो सकता है। इस आधार पर इन्द्र देवता मूलत: भारतीय देवता सिद्ध होंगे। वेदों, पुराणों में इन्द्र की जितनी महिमा है उतनी अन्य पंरपरा में नहीं है। लोक-परम्परा में नामकरण में इन्द्र का पद इतना लोकप्रिय है कि उसका व्यापक रूप उसकी मौलिक भारतीयता को सिद्ध करता है। महेन्द्र,सुरेन्द्र, राजेन्द्र, देवेन्द्र, नरेन्द्र अदि असंख्य रूपों में **इन्द्र** पद का योग नामों के साथ मिलता है। इसी प्रकार **ईश, कुमार, देवी, कुमारी** आदि का नामों के साथ पद-योग संस्कृति के शैव और शाक्त सन्दर्भों को प्रमाणित करते हैं। "(8) नाम व्यक्तियों के विशेष अभिधान हैं। रूपों और भावों का विशेषीकरण

संस्कृति का लक्षण है।

इस कसौटी पर मातृ,पितृ,भ्रातृ शब्द भी भारतीय सिद्ध होंगे। मातृ-पूजा की प्रथा प्राचीनकाल में संसार के अनेक क्षेत्रो में रही होगी किन्तु भारतीय परम्परा में जितने सूक्ष्म,गम्भीर और व्यापक रूप में मातृ-महिमा का प्रभाव है उतना शायद अन्य किसी परम्परा में नहीं है। इतनी समृद्ध मातृ-महिमा किसी बाहरी प्रभाव से आयातित नहीं हो सकती। वह वैदिक धर्म से भी पहले लोक-परम्परा में ओत-प्रोत तथा उसके सूत्र से वन्य एवं ग्रामीण समाज में भी प्रचलित है। पितृ,भ्रातृ के भाव-सन्दर्भ भी भारतीय परम्परा में अधिक समृद्ध हैं। इस सांस्कृतिक तर्क से इन शब्दों की मौलिक भारतीयता प्रमाणित होती है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. गुणानन्द जुयाल-हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास,पृष्ठ संख्या 59
2. वही,पृष्ठ संख्या 60
3. बाबूराम त्रिपाठी-भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 108
4. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 90
5. डॉ.हरदेव बाहरी-हिन्दी : उद्भव ,विकास और रूप,पृष्ठ संख्या 30
6. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 93
7. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 94
8. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 95

अध्याय-4

भाषा का सामान्य स्वरूप और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भाषा के सामान्य स्वरूप का निर्धारण करना आवश्यक है। इस निर्धारण के बिना भाषा की उत्पत्ति विषयक मत कुछ असंगत होंगे। ये मत भाषा को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण कर प्रस्तुत किये गये हैं। मतों के अनुसार भाषा अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण की एक व्यापक प्रणाली है। आंगिक संकेत,ध्वनि संकेत,रेखा अथवा चित्र संकेत भाषा की व्यापक धारणा में सम्मिलित हैं। भाषा के इस व्यापक रूप में इन ध्वनि संकेतों में वर्ण-विवेक अथवा शब्द-विवेक आवश्यक नहीं है। रेखा या चित्र संकेतों में वर्ण-विवेक आवश्यक नहीं। नि:सन्देह आदिम काल में मनुष्यों की भाषा भी इसी व्यापक रूप में वर्तमान रही होगी। ध्वनि संकेतों के रूप में यह भाषा पशुओं की भाषा के अत्यन्त निकट रही होगी। रेखा अथवा चित्र-संकेतों की भाषा का उदय मानव बुद्धि और समाज की कुछ अधिक विकसित अवस्था में ही हुआ होगा।

जिन पशु-तुल्य ध्वनि संकेतों में मानव भाषा के बीजों का अंकुरण माना जाता है उनसे वे भाषाएँ बहुत भिन्न हैं जिनको मनुष्य की सांस्कृतिक धरोहर माना जाता है उन्हीं का भाषा-विज्ञान में अध्ययन किया जाता है। वर्ण-विवेक व शब्द-विवेक से रहित ध्वनि संकेतों को मानव बुद्धि और जीवन के विकास के अनुरूप पशुओं की भाषा से कुछ विकसित माना जा सकता है। ध्वनि-संकेतों की भाषा पशुओं की अविकासमान भाषा तथा वर्ण-विवेक,शब्द-विवेक से युक्त मनुष्य की विकासशील भाषा के मध्य सेतु की भाँति रही होगी। इस आदिम मानव भाषा में सभ्य मानव की विकसित भाषा के बीजों की उपस्थिति मानी जा सकती है। आज जिन भाषाओं का अध्ययन भाषा-विज्ञान में किया जाता है उनका स्वरूप ध्वनि-संकेतों की इस आदिम भाषा से अत्यन्त भिन्न है। भाषा की उत्पत्ति के लिए हमें सभ्य मानव की भाषाओं की उत्पत्ति की व्याख्या करनी चाहिए। इन भाषाओं के सामान्य स्वरूप की विशेषताओं का निर्धारण कर भाषा के इतिहास में इन विशेषताओं के अभ्युदय तथा इनसे युक्त भाषाओं के विकास की परिस्थितियों, प्रेरणाओं, कारणों व सिद्धान्तों का अनुसंधान करना चाहिए। भाषा की उत्पत्ति के बारह मत इन विशेषताओं से युक्त भाषा के उद्भव का निर्देश नहीं करते वे

अभिव्यक्ति के माध्यमों का संकेत करते हैं जो पशु-संकेतों के अति निकट हैं, जिनसे मानव भाषा को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।

वर्ण-ध्वनि,शब्द-रूप व्याकरण आदि भाषा की कुछ ऐसी व्यापक विशेषताएँ हैं जो प्राय: उन सभी भाषाओं में पाई जाती हैं जो मनुष्य की धरोहर के रूप में प्राप्त हुई हैं जिनका अध्ययन भाषा-विज्ञान में किया जाता है। कुछ भाषाएँ चित्रात्मक हैं। उनमें वर्ण-ध्वनियों का विवेक नहीं है किन्तु चित्रात्मक **चिह्नों** की व्याख्या बहुत कुछ शब्द-योजना के समान है। अधिकांश भाषाएँ वर्णात्मक व शब्दात्मक हैं उनके शब्द वर्णों के योग से बनते हैं। शब्दों के योग से वाक्य बनते हैं। कुछ ध्वनियों व **चिह्नों** का विश्लेषण व संयोजन इन भाषाओं का व्यावहारिक रूप है। वर्णात्मक भाषाओं के चित्र **चिह्नों** की अपेक्षा बहुत कम हैं। अधिकांश भाषाएँ वर्णात्मक और शब्दात्मक हैं। यही मानव भाषा का विशेषत: मानवीय किन्तु आदिम स्वरूप है। भाषा के इसी स्वरूप को अधिकांश भाषाओं का प्रतिनिधि रूप मानकर भाषा के इसी स्वरूप के अभ्युदय की व्याख्या करना भाषा-विज्ञान का प्रथम कर्तव्य है।

भाषा का अभ्युदय और विकास मनुष्य के सांस्कृतिक अध्यवसाय का परिणाम है तथा उसका वर्तमान स्वरूप संस्कृति का ही प्रतिफल है। संस्कृति सृजनात्मक है। मानव द्वारा निर्मित समस्त वस्तुएँ संस्कृति में ही सम्मिलित हैं। विश्व के समस्त मानव समाजों में जिस स्वरूप में भाषा मिलती है भाषा का वह रूप बहुत कुछ सांस्कृतिक है। भाषाएँ अपने इतिहास के प्राचीनतम काल में जिस अवस्था में मिलती हैं उसके बाद कालक्रम से उनके रूप का विकास हुआ। इस विकास में अनेक सांस्कृतिक सूत्र समाहित हैं किन्तु इन भाषाओं के प्राचीनतम रूप भी सांस्कृतिक हैं। भाषाओं के निर्माण और उनके स्वरूप को सांस्कृतिक मानने का अभिप्राय उनके मूल और सामान्य प्राकृतिक आधारों का निषेध करना नहीं है। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि सामान्य प्राकृतिक आधारों एवं उपादानों से जिन विशेष रूपों में विभिन्न भाषाओं का निर्माण हुआ है उन विशेष रूपों में ये भाषाएँ सांस्कृतिक हैं,यद्यपि विभिन्न समाजों में सांस्कृतिक अध्यवसाय के रूप,गुण और परिमाण की भिन्नता के कारण विभिन्न भाषाओं में सांस्कृतिक लक्षण विभिन्न रूप व परिमाण में मिलते हैं। संस्कृत भाषा में सांस्कृतिक लक्षण अधिक समृद्ध व विपुल परिमाण में मिलते हैं। ऐसी भाषाएँ कुछ अन्य भी हैं किन्तु सभी भाषाओं का निर्माण सांस्कृतिक उद्योग से हुआ है और उनके आरम्भिक विदित

रूप में भी प्रेरणा, रूपविधान आदि की रचनात्मक शक्ति के रूप में भी संस्कृति के लक्षण विद्यमान रहे हैं।

संस्कृति के जो सूत्र भाषा तथा अन्य मानवीय रचनाओं को प्रेरित करते हैं उनमें संकल्प,स्वतंत्रता,सामाजिकता,समात्मभाव,रूप का अतिशय ,भाव का अतिशय,परम्परा,विविधता,व्यवस्था आदि मुख्य हैं। जिस रूप में भाषाएँ अपनी प्राचीनतम अवस्था में मिलती हैं तथा जिस रूप में उनका आगे विकास हुआ है भाषाओं के उस रूप में वर्ण-ध्वनियों का विवेक ,उनका उच्चारण,वर्ण-ध्वनि या उनके विवेक से पूर्व समग्र रूप में विभिन्न वस्तुओं,क्रियाओं,भावों और सम्बन्धों के वाचक शब्दों का निर्माण,वाक्य विन्यास का विकास,व्याकरण शब्दों के निर्माण के सांस्कृतिक सूत्र,शब्दों के सांस्कृतिक संदर्भ,शब्दों की भाव-भंगिमा,उनकी अर्थ-सम्पत्ति और उनकी अभिव्यंजना शक्ति का विकास,लिपि का सापेक्ष सौन्दर्य आदि सभी पक्षों को परिगणित किया जाता है।

विभिन्न भाषाओं के अधिकांश शब्द भिन्न-भिन्न हैं। इसका कारण मनुष्यों के भाषा-निर्माण करने वाले संकल्प की स्वतंत्रता है। अधिकांश शब्द व्यावहारिक संयोग एवं रूढ़ि के रूप में ही निर्मित एवं प्रचलित हुए होंगे किन्तु इन शब्दों के निर्माण के सृजनात्मक संकल्पों को स्वतंत्र अत: सांस्कृतिक मानना होगा। इन संकल्पों की स्वतंत्रता से ही भाषाओं के विभिन्न शब्द,ध्वनि-संकेत अपने विविध रूपों में रचित हुए हैं। यह संकल्प की स्वतंत्रता तथा इससे फलित होने वाली समान पदार्थों के वाचक शब्दों की विभिन्न भाषाओं में प्राप्त भिन्नता भाषा के अभ्युदय और विकास की सांस्कृतिकता का मूल प्रमाण है। संस्कृति और भाषा का साथ-साथ विकास हुआ होगा। विशेष भावों एवं सन्दर्भों के सूत्र आत्मिक व सांस्कृतिक हैं। सांस्कृतिक परम्परा रूढ़ि का रूप ग्रहण कर लेती है। सांस्कृतिक रूढ़ियों को पीढ़ियाँ युगों तक संरक्षण एवं धारण करती हैं। भाषाओं की रूप-रचनाएँ सांस्कृतिक होने के कारण आत्मिक हैं तथा आत्मिक संकल्प के अनुग्रह से साँस्कृतिक हैं। वर्ण-ध्वनियों के उच्चारण से लेकर लिपि एवं साहित्य तक भाषा के अनेक रूपों में भाषा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का प्रभाव दिखाई देता है। वर्गों की अपेक्षा शब्दों तथा उनके अर्थों एवं भावों में यह प्रभाव अधिक है। शब्दों के आदिम रूप व अर्थ आकस्मिक नहीं हैं। शब्दों के चलन,उनके अर्थ सम्प्रेषण की रूढ़ि में भी सामाजिक समान आत्मभाव के सांस्कृतिक सूत्र विद्यमान हैं। व्यावहारिक उपयोग के शब्दों की अपेक्षा आत्मिक भावों के व्यंजक शब्दों में अभिव्यंजना और

भाव-सम्प्रेषण की शक्ति अधिक है। भाषा के निर्माता अर्थात् मनुष्य के सांस्कृतिक संकल्प से ही शब्दों में यह शक्ति समाहित हुई है। " सांस्कृतिक जीवन के प्रभाव से ही **माता** जैसे सरल व सहज ध्वनि से निर्मित शब्दों में भाव का सागर समाहित हो गया है। "(1) " हिन्दी के मामा,मौसी ,भाभी आदि अनेक सम्बन्धों के वाचक शब्दों तथा पूड़ी,परांठे,उपला आदि वस्तुओं के वाचक शब्दों के पर्याय अंग्रेजी में उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण यही है कि एक समाज की परम्परा में जिस भाव का जितना समादर हुआ है उसका उतना समादर दूसरे समाज में नहीं हुआ।"(2) समाज के सांस्कृतिक संस्कारों की भिन्नता के कारण शब्दों की उपर्युक्त भिन्नता भाषाओं में उत्पन्न हुई।

(क) भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी बारह प्रचलित सिद्धान्त

भाषा-विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति के कई सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है। भाषा कब और कैसे उत्पन्न हुई ? आदिकाल से ही यह प्रश्न विद्यमान रहा है। विभिन्न विद्वानों ने इस प्रश्न पर विमर्श करते हुए कल्पना एवं अनुमान का ही सहारा लिया है उनके पास कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं किन्तु भाषा की उत्पत्ति इन्हीं में छिपी है। ये सिद्धान्त अग्रांकित हैं।

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

यह भाषा की उत्पत्ति का प्राचीनतम् एवं धार्मिक सिद्धान्त है। भाषा मनुष्य की रचना नहीं वरन् ईश्वर की देन है जैसे ईश्वर ने मनुष्य,पशु,पृथ्वी,सागर,नदी, पर्वत,वन आदि का निर्माण किया वैसे ही उसने मनुष्य को प्रारम्भ से ही भाषा या वाणी दी। इस आधार पर हिन्दी भाषी संस्कृत को देवभाषा या देववाणी मानकर चलते हैं। बौद्ध लोग पालि को,जैन लोग प्राकृत को,ईसाई लोग हिब्रू को,मुस्लिम लोग अरबी को देवभाषा मानकर चलते हैं।

2. धातु सिद्धान्त

यह भौतिकवादी सिद्धान्त है। एक वस्तु पर किसी अन्य वस्तु से आघात करने पर ध्वनि निकलती है। जैसे लकड़ी पर चोट करने से ठक-ठक,धातु से टन-टन आदि। ये ध्वनियाँ धातु के रूप में बनीं। इन धातु शब्दों से बाद में भाषा का विकास हुआ।

3. अनुकरण सिद्धान्त

प्रकृति के सान्निध्य में रहते-रहते मनुष्य ने विभिन्न ध्वनियों का अनुकरण

किया जैसे एक पक्षी को काँव-काँव बोलते सुना तो उस ध्वनि का अनुकरण कर उस पक्षी का नाम कॉक या काग रख लिया इसलिए संस्कृत में कौआ को काक्,असमिया में काऊली,मराठी में कागला,तेलगू में काकि,तमिल एवं मलयालम में कक्का और अंग्रेजी में क्रो कहा जाने लगा।" अनुकरण के आधार पर कल-कल,ठक-ठक,छल-छल,मर-मर,सर-सर,खट-पट, फड़फड़ाना, गिड़गिड़ाना,मिमियाना,हिनहिनाना आदि शब्दों का निर्माण हुआ। "(3)

4. इंगित सिद्धान्त

प्रारम्भ में मनुष्य आँखों के संकेत से या हाथ-पैर हिलाकर इंगित करके अपने भाव या विचार व्यक्त किया करता था किन्तु वह पूर्णरूपेण अपना मंतव्य प्रकट नहीं कर पाता था इसलिए मानव ने एक स्थान पर एकत्रित होकर विमर्श करके कुछ ध्वनि-संकेत स्थिर किये जिनसे भाषा का विकास हुआ।

5. संगीत सिद्धान्त

इसे सिंगसॉगवाद या संगीतवाद नाम दिया गया है। खाली या अकेले समय में मनुष्य कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता है जिससे आरम्भ में अर्थरहित अक्षर बने होंगे। इन्हीं से आगे चलकर भाषा का विकास हुआ होगा।

6. टा-टा सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते समय मानव-मुख से कुछ ध्वनियाँ उत्पन्न हो जाया करती थीं। प्रारम्भ में वह जाने अनजाने इनका प्रयोग करता था। इस अनुकरण में कुछ ध्वनि संयोगों से शब्दों का उच्चारण हुआ होगा। ये शब्द प्रारम्भ में अस्पष्ट रहे होंगे धीरे-धीरे इनमें स्पष्टता आती गई और भाषा का निर्माण हुआ।

7. श्रम-परिहार सिद्धान्त

इसे यो-हे-हो सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन न्वायर ने किया। मनुष्य जब परिश्रम करता है तो श्रम-परिहार के लिए कोई ध्वनि करता है।" धोबी कपड़े धोते समय छिओ-छिओ की ध्वनि करता है। "(4) भारी पदार्थ को उठाते समय मजदूर जोर लगाके हैया जैसी ध्वनियाँ करते हैं। इन्हीं सहज रूप से निकली ध्वनियों से भाषा का निर्माण हुआ।

8. मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त

इसे अंग्रेजी में पूह-पूह कहते हैं। इसके अनुसार हर्ष,शोक,आश्चर्य,विस्मय, क्रोध,घृणा आदि मनोभावों के व्यक्त होने पर जो ध्वनियाँ सहज ही मुख से निकलती हैं उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई।" ये ध्वनियाँ हा-हा या ही-ही,ओह आउच,छी-छी,धत,धिक,फाई,हाय,पूह,पिश आदि हैं। "(5)

9. सम्पर्क सिद्धान्त

इसके प्रवर्तक जी.रेवेज हैं। मनुष्य में सम्पर्क की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। इस सम्पर्क में मुँह से कुछ ध्वनियाँ निकलती होंगी,इन्हीं ध्वनियों से भाषा का विकास हुआ होगा।

10. संकेत सिद्धान्त

विभिन्न पदार्थों से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं उन ध्वनियों का संकेत उस पदार्थ के लिए किया जाता था जैसे किसी पेय पदार्थ को पीते समय मनुष्य के मुख से शरप्-शरप् या शणप् जैसी ध्वनि होती है। संभवत: इसी संकेत से शरबत या शराब जैसे शब्दों की उत्पत्ति हुई।

11. विकासवादी सिद्धान्त

भाषा का विकास धीरे-धीरे हुआ है। यह डार्विन के विकासवाद से प्रभावित है किन्तु जैविक विकास की भाँति भाषा के विकास के चरणों के वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

12. समन्वित सिद्धान्त

ये समन्वयवादी सिद्धान्त है। ये कई सिद्धान्तों के समन्वय द्वारा भाषा के उद्भव की व्याख्या करता है। प्रारम्भ में भाषा इंगित,भाव संकेत,संकेत-ध्वनि के रूप में आविर्भूत हुई। ध्वनि-संकेतों ने ध्वनि समवाय का रूप लिया। अनुकरण ने इसमें योग दिया अन्त में प्रतीकों के रूप में भाषा का अभ्युदय हुआ। भाषा-वैज्ञानिक स्वीट ने इस सिद्धान्त का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त अधिक संगत एवं मान्य है।

उपर्युक्त मतों की आलोचना

उपर्युक्त सभी मत भाषा के उस मानवीय रूप के उद्भव की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं करते जिन रूपों में भाषा-विज्ञान में उनका अध्ययन किया जाता है। सभी मतों में कुछ न कुछ अपूर्णता या असंगति है।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त धार्मिक है वैज्ञानिक नहीं। भाषा ईश्वर-निर्मित है तो संसार की सभी भाषाएँ समान होनी चाहिए जबकि पशु-पक्षियों की बोलियाँ समान हैं। धातु सिद्धान्त मानव रचित वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या नहीं करता। भाषा में केवल धातुएँ ही नहीं होतीं तथा संसार की सभी भाषाओं की उत्पत्ति धातुओं से ही नहीं हुई है। अनुकरण सिद्धान्त केवल कुछ शब्दों की व्याख्या करता है। अनुकरणात्मक शब्द भाषाओं में कम हैं तथा अधिक महत्वपूर्ण शब्द इससे नहीं बने। इंगित सिद्धान्त में आंगिक इंगित ध्वनि इंगित में कैसे बदल सकते हैं ? बिना भाषा के एक स्थान पर एकत्रित होना व विमर्श करना भी संभव नहीं है। संगीत सिद्धान्त ध्वनि की लय से वर्णों व शब्दों की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करता। टा-टा सिद्धान्त प्राकृतिक है वह मानव संकल्प से बने सार्थक शब्दों की भाषा की व्याख्या नहीं करता। सार्थक शब्दों की भाषा के उद्भव की व्याख्या श्रम परिहार सिद्धान्त भी नहीं करता। मनोभावाभिव्यक्ति की ध्वनियों से विचारों एवं वस्तुओं के बोधक शब्द कैसे उत्पन्न हुए ? इसकी व्याख्या मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त नहीं करता। सम्पर्क की मनोवृत्ति से शब्द व्यवस्था की भाषा का उद्भव कैसे हुआ ? सम्पर्क सिद्धान्त में इसका उत्तर नहीं है। संकेत सिद्धान्त में मानव भाषा के संकेत वर्ण निर्मित शब्दों के रूप में हैं जो वस्तुओं,भावों,विचारों के प्रतीकात्मक चिह्न हैं लेकिन भाषा के समस्त शब्द इस संकेत के आधार पर नहीं बनते। विकासवाद में भाषा का क्रमिक विकास हुआ है,यह तो ठीक है किन्तु किन परिस्थितियों एवं प्रेरणाओं द्वारा भाषा का विकास हुआ इसकी ये सिद्धान्त व्याख्या नहीं करता। समन्वित सिद्धान्त का दृष्टिकोण समाचीन है नि:सन्देह कई तत्वों के समन्वय से भाषा का विकास हुआ है किन्तु इंगित,भाव-संकेत,ध्वनि-समवाय ने मानव भाषा का रूप कैसे लिया,इसकी व्याख्या ये सिद्धान्त नहीं करता। शब्द-ध्वनियों तथा वर्ण-ध्वनियों का विवेक,विश्लेषण और व्याकरणानुसार संयोजन किस प्रकार,किन प्रेरणाओं और क्षमताओं से हुआ,इसकी समुचित व्याख्या कोई भी सिद्धान्त नहीं करता किन्तु इसकी समाचीन व्याख्या की जरूरत है। इसकी व्याख्या के द्वारा ही भाषा के उद्भव और विकास की सरणियाँ प्रकाशित हो सकती हैं।

(ख) भाषा के उद्भव का सांस्कृतिक सिद्धान्त

वस्तुत: भाषा मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण

व सिद्धान्त के अनुसार ही भाषा के उद्भव और विकास की समुचित व्याख्या हो सकती है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। प्रकृति प्रदत्त पृथ्वी के परिवेश,सजीव शरीर के आधार पर मनुष्य ने आत्मिक संकल्प सामाजिक समात्मभाव, विश्लेषणात्मक बुद्धि,भावुक हृदय आदि के सहयोग से जो भी रचनाएँ की हैं वे सब संस्कृति की परिधि में मानी जा सकती हैं भाषा इन सांस्कृतिक रचनाओं में अन्यतम है। इन रचनाओं में जो उपयोगी अधिक है उनमें प्राकृतिक आकांक्षाओं का प्रभाव अधिक है। मनुष्य का शरीर और उसकी बुद्धि उपयोगिता से आकर्षित होते हैं।" बुद्धि ने निरुपयोगी शुद्ध ज्ञान का भी विकास किया है किन्तु मनुष्य की आत्मा सर्वाधिक अतिशयपूर्ण है इसीलिए आत्मा को वर्धनशील **ब्रह्म** का नाम दिया है। इसी आत्मा से प्रेरित होकर मनुष्य सुन्दर से सुन्दरतर रचनाएँ करता है। "(6) आत्मा का अतिशय मूलत: भाव का अतिशय है। आत्मा का अतिशयपूर्ण भाव व्यक्ति के केन्द्र में न समाकर पारस्परिक अद्वैत से युक्त साम्य में छलकता है। इस अतिशयपूर्ण आत्मिक साम्य के भाव को समात्मभाव कह सकते हैं। यह आत्मिक संवाद का निगूढ़ भाव है जो मनुष्यों के परस्पर अनूकुल साम्य में उनकी आत्मा में प्रकाशित होता है यह अनिर्वचनीय है किन्तु अतिरेक के कारण यह अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो उठता है। समात्मभाव की अनुभूति अन्तर्मुखी है। अभिव्यक्ति बहिर्मुखी होती है वह ब्रह्म से जगत् के विषयों का सम्बन्ध करती है। अनुभूति के भाव का अतिरेक अभिव्यक्ति में रूप के अतिशय में साकार होता है। इन्हीं अतिशयपूर्ण रूपों की रचना संस्कृति है जिसमें भाव के अतिशय साकार होते हैं।

रूप का अतिशय कलाकृतियों में साकार होता है। अतिशययुक्त रूप सौन्दर्य कहलाता है अत: रूप **सौन्दर्य** का पर्याय है। कला संस्कृति की प्रणाली है। आत्मा के अतिशययुक्त भाव को बुद्धि नियमों द्वारा व्यवस्थित व मर्यादित करती है। आत्मा की अतिशयपूर्ण भावात्मक प्रेरणा,अभिव्यक्ति के कलात्मक रूपातिशय और बौद्धिक व्यवस्था की मर्यादा की तीन विभाओं के योग से प्राकृतिक उपकरणों की विभा में संस्कृति का मूर्त अनुष्ठान होता है। इस सांस्कृतिक अनुष्ठान का साधन व साध्य भाषा है। वह साधन व साध्य के समन्वित रूप में उदित एवं विकसित हुई है।

रूप की दृष्टि से ध्वनि-धारा में शब्द ध्वनियों का विभाजन,इनका वर्ण-ध्वनियों में विश्लेषण मानव भाषा की विशेषता है,जो उसे पशु-भाषा से

पृथक करती है। इस ध्वनि विश्लेषण की परिस्थिति,प्रेरणा,क्षमता की व्याख्या मानव भाषा की उत्पत्ति के लिए जरूरी है। भाषा का लिपि में अंकन कलात्मक रचना है। लिपि के आविष्कार में बौद्धिक विश्लेषण,बौद्धिक व्यवस्था और कलात्मक रूप सौन्दर्य तीनों का संगम है इनके पीछे आत्मा की वह प्रेरणा है जो परस्पर समात्मभाव की अनुभूति के अतिशय को अभिव्यक्ति हेतु आकुल बना देती है इसी अभिव्यक्ति से आदिम समाज में भाषा का मुखर स्फोट हुआ होगा जिसके मूल में संकल्प की स्वच्छन्द शक्ति रही होगी।

ये भाषा के मानवीय सूत्र हैं किन्तु इन सूत्रों के अनुसार शरीर,मस्तिष्क, मानवीय सम्बन्ध की जिन परिस्थितियों में भाषा का उद्भव व विकास सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में हुआ होगा उन परिस्थितियों का विवरण आवश्यक है। ये परिस्थितियाँ भाषा के विकास की बाह्य भूमिका बनाती हैं। इस भूमिका पर भाषा के सार्थक सम्प्रेषण-सूत्र का निर्माण हुआ होगा।

प्राकृतिक साधनों एवं आत्मिक आकांक्षाओं की अन्यान्य प्रेरणा से मानव ने संस्कृति की रचना की। मानव शरीर सांस्कृतिक साधना का प्राकृतिक पीठ है। इस शरीर विन्यास और सामाजिक सम्बन्ध के क्रमिक विकास में किस स्थिति तथा किस सूत्र से सांस्कृतिक अभ्युदय या भाषा का प्रारम्भ हुआ,यह एक निगूढ रहस्य है। काम,संभोग,दाम्पत्य और वात्यल्य के अतिरिक्त इस रहस्य का कोई दूसरा सूत्र नहीं है।" भारतीय दर्शन में काम को दिव्य विभूति माना गया है। शैव और शाक्त मत में काम को आनन्दमय शिव की शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मूलत: काम जीवन में दिव्य शक्ति का आनन्दमय एवं सृजनात्मक सेतु है। जिसके मार्ग से परमसत्ता का सृष्टि के रूपों में अवतार होता है तथा मनुष्य ब्रह्मलोक तक आरोहण कर सकता है। पशुओं का काम सम्बन्ध भी दिव्य की तरंग से वंचित नहीं है। सिंह,सर्प,सारस,कपोत आदि में काम-सम्बन्ध स्थायी दाम्पत्य के मानवीय क्षितिजों का स्पर्श करता है। "(7)

संभोग,मातृत्व,वात्सल्य और दाम्पत्य की चार विभाओं में काम अपना साकार रूप ग्रहण करता है। संभोग काम का बीज है इससे मातृत्व,वात्सल्य एवं दाम्पत्य के फल,पुष्प और पल्लव फलते-फूलते हैं। मातृत्व संभोग का सहज परिणाम है। यह भाव पशु-पक्षियों में भी मिलता है। मानव समाज में वात्सल्य भाव अधिक समृद्ध रूप में विकसित हुआ होगा। वात्सल्य व शिशुपालन की अपेक्षाएँ तथा प्रसविनी माताओं की असमर्थता एवं सहायता

की आकांक्षा ने माताओं के संगठन को प्रेरित किया होगा। **दुर्गासप्तशती** में इन संगठनों के संकेत मिलते हैं।

सुरक्षा और शिशुपालन हेतु माताओं में तथा आखेट व स्त्रियों पर आक्रमण के लिए दानवीय पुरुषों में संगठन का सूत्रपात हुआ होगा इसे आदिम समाज व्यवस्था का आरम्भिक रूप मान सकते हैं। इसी संगठन में मनुष्यों के पारस्परिक सम्पर्क सूत्रों का आरम्भ हुआ होगा। सम्पर्क की इन्हीं परिस्थितियों में अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के निमित्त से भाषा का अभ्युदय हुआ होगा। सम्पर्क की पारस्परिकता के अद्वैतमय आत्मिक भाव की प्रेरणा से मौन में अन्तर्मुखी अनुभूतियों का भाषामय अभिव्यक्ति में विस्फोट हुआ होगा। काम,सम्भोग के सन्दर्भ में इन संगठनों से पहले भी भाषा का उद्भव संभव है किन्तु सम्भोग अनुभूति प्रधान है। सम्भोग-काल में मौन अनुभूति का आनन्द पशुओं में भी प्रमुख दिखाई देता है। पशुओं की काम-व्यवस्था में मादा को आक्रमण की इतनी आशंका नहीं जितनी मानवी स्त्री को है। पशु-पक्षियों की भाषा बहुत कुछ काम मूलक है। उसमें भय,उल्लास के भी संकेत हैं। पशुओं के वर्ण-विहीन नाद को पारस्परिक आत्मिक अद्वैतभाव से प्रेरित मानना होगा शायद शब्द का स्फोट आत्मिक है। पशुओं के काम-सन्दर्भ में अद्वैतभाव के सूत्र दिखाई पड़ते हैं। पारस्परिक अद्वैतभाव में ही शब्द भाव का संवाहक बनता है।

नर पुरुष के स्वभाव में स्वार्थ एवं बौद्धिक अलगाव पशु-पक्षियों की तुलना में अधिक है अत: काम सन्दर्भ में आत्मिकता व अद्वैत उसके लिए दुर्लभ है आज भी सभ्य दम्पतियों में प्राप्त विरोध इसका प्रमाण है। आखेट एवं आक्रमण के अभियानों में संगठित पुरुष-दल में कुछ आवेगात्मक उच्च ध्वनियों का उद्भव अवश्य हुआ होगा किन्तु इन ध्वनियों को सम्प्रेषणात्मक भाषा का उद्भव नहीं कहा जा सकता। आदिम पुरुषों के काम सम्बन्ध में पशु-पक्षियों जैसा साम्य और पारस्परिकता न होने के कारण पुरुष वर्ग में मानवीय भाषा के बीज अंकुरित नहीं हुए होंगे। शायद दाम्पत्य से पहले सुरक्षा और पारस्परिक सहयोग प्रेरित मातृ-समाज में ही शिशुओं के पालन और वात्सल्य की भूमिका में सम्प्रेषणात्मक ध्वनियों की भाषा का अभ्युदय हुआ होगा। सुरक्षा एवं शिशु कल्याण के लिए कुछ नाद-मंत्र भी मातृ-समाज में विकसित हुए होंगे।" ह्रीं,क्लीं,हुं,फट् "[8] आदि बीज मंत्र भाषा के आदिम रूप के अवशेष

हैं। ये मंत्र बीज एक स्वर में समाहित व्यंजन समूह की संयुक्त ध्वनि के उदाहरण हैं जिन्हें अंग्रेजी में सिलेबिल(Syllable)का पर्याय मान सकते हैं। हिमालय आदि के मातृ-तंत्र के प्रभाव में चीन आदि देशों की भाषाएँ एकाक्षरी विकसित हुईं। गौमाता का वात्सल्यमय आह्वान तथा बछड़े के अनुनाद से मा,अम्मा,अम्बा आदि मातृवाचक पदों की समानता भी इस धारणा में योग देती है।

भाषा की सम्प्रेषणात्मक ध्वनियों के उद्भव मातृत्व की परिस्थितियों में विकसित मातृ समाज में सुरक्षा एवं शिशुपालन के आत्मिक साम्य की प्रेरणा से आदिम और अर्थहीन बीज मंत्रों की एकाक्षर ध्वनियों से हुआ। काम और वात्सल्य के सूत्र से विकसित दाम्पत्य में पुरुष की विश्लेषणात्मक बौद्धिकता के योग से वर्णात्मक भाषा का विकास हुआ है।" शिव के डमरू नाद से वर्णमाला के वर्णों की ध्वनि के निस्सरण की पौराणिक मान्यता का यही अर्थ है। दाम्पत्य के साम्य का आरम्भ एवं विकास भारत में और एकाक्षरी भाषा के देश हिमालय प्रदेश में हुआ,यह शिव-पार्वती की कथा से प्रमाणित होता है। गढ़वाल के श्रीनगर में चामुण्डा काली के द्वारा चण्डमुण्डवध की अनुश्रुति भी इसका समर्थन करती है। "(9)

अत: भाषा के मानवीय रूप का अभ्युदय आदिम मातृ-समाज के पारस्परिक सहयोग एवं साम्य की भूमिका में सुरक्षा और शिशु-कल्याण की एकाक्षर ध्वनियों के अर्थहीन कूट मंत्रों से हुआ जो आज भी तांत्रिक साधना के बीज मंत्रों के रूप में सुरक्षित हैं। माता की लोरियाँ एकाक्षर ध्वनियाँ थीं आज भी माताएँ शिशुओं के साथ एकाक्षर ध्वनियों का उच्चारण संगीतमय लय के साथ उन्हें खिलाने, दुलारने व सुलाने में करती हैं। बालक स्वयं शैशव में ऐसी ही ध्वनियों के राग अलापता है। मस्तिष्क और उच्चारण-यंत्रों के समुचित विकास के बाद एकाक्षर ध्वनियों का शैशव राग ही मनुष्य की भाषा का मूल उद्गम है। शिशु सम्पर्क से वह माता की एकाक्षरी लोरियों में तथा एकाक्षर बीज-मंत्रों में रूढ़ हुआ। आदिमकाल में सर्वत्र मातृसमाज रहा होगा। भारतीय पुराणों से विदित होता है कि भारत के हिमालय प्रदेश में उसका विशेष प्रभुत्व था। निकटता के कारण चीनी आदि भाषाएँ एकाक्षरी बन गईं।

(ग) भाषा के मानवीय रूप का अभ्युदय

मानवीय भाषा अर्थ-सम्प्रेषण के लिए निर्मित ध्वन्यात्मक प्रतीकों की विश्लेषणात्मक व्यवस्था है। आत्मिक साम्य के अनुभवात्मक अतिरेक की अभिव्यक्ति

मुखी आकुलता में मनुष्य की आत्मिक सत्ता का सम्प्रेषणीय एवं ग्राह्य ध्वनियों में स्फोट हुआ है। आत्मा की संकल्पात्मक शक्ति ही भाषा में मुखर हुई है। संकल्पजन्य होने से मानवीय भाषा सांस्कृतिक है एवं व्यावहारिक,बौद्धिक तथा सांस्कृतिक प्रेरणाओं से उसका विकास हुआ है।

भाषा का मूल आधार प्राकृतिक ध्वनि है। शरीर,मस्तिष्क और बुद्धि के विशेष विकास द्वारा मनुष्य में वर्तमान भाषाओं की ध्वनियों के उच्चारण की क्षमता उदित हुई। मनुष्य के बालक में ये क्षमता विद्यमान रहती है किन्तु यह एक सहज प्राकृतिक प्रवृत्ति है। मातृत्व,परिवार और समाज की परम्परागत प्रेरणा के बिना ये प्रवृत्ति चरितार्थ नहीं होती।" भेड़ियों के बीच पले हुए बालक मानवीय भाषा नहीं बोलते हैं। "(10) इससे सिद्ध होता है कि मानवीय भाषा पशु-भाषा के समान प्राकृतिक एवं स्वाभाविक नहीं वरन् एक सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा है। भाषा के इस मानवीय रूप का अभ्युदय मनुष्य के द्वारा विकास-क्रम में प्राप्त ध्वनि-विवेक की क्षमता के आधार पर व्यावहारिक आकांक्षा,बौद्धिक व्यवस्था,आत्मिक साम्य तथा कलात्मक सुरुचि के सहयोग से सांस्कृतिक संकल्प के द्वारा हुआ है।

भाषा के इन अंगों में आत्मिक साम्य और समात्मभाव भाषा के मानवीय रूप के अभ्युदय की मौलिक आन्तरिक स्थिति है। इस स्थिति में आत्मिक अनुभूति की अतिशयपूर्ण समृद्धि होती है इस अनुभूति का अतिरेक अभिव्यक्ति के लिए आकुल होता है जो अभिव्यक्ति के लिए संकल्प का रूप लेती है। इसी संकल्प के बीज से भाषा अंकुरित हुई है। मातृत्व व दाम्पत्य की स्थिति में आत्मिक साम्य ने सामाजिक रूप लिया। मातृत्व,वात्सल्य और गार्हस्थ्य के भावना सूत्र से दाम्पत्य में समात्मभाव का विकास हुआ इसी दाम्पत्य के सूत्र से समाज का संगठन हुआ। इस दाम्पत्य और समाज में व्यावहारिक अपेक्षाएँ एवं आकांक्षाएँ बढ़ीं। समाज की व्यावहारिक अपेक्षाओं तथा अनुभूति के अतिरेकों को व्यक्त करने के लिए मातृ समाज की एकाक्षरी मंत्र भाषा में वर्णों और मात्राओं का बौद्धिक विश्लेषण करके पुरुष समाज ने बौद्धिक वर्णिक भाषा का विकास किया। दाम्पत्य और समाज के जिस व्यावहारिक सम्पर्क एवं आत्मिक साम्य से विश्लेषणात्मक भाषा का विकास हुआ होगा उसमें स्त्री और पुरुष दोनों का सहयोग रहा होगा किन्तु पुरुषों की विशेष बौद्धिक वृत्ति एवं प्रतिभा से भाषा विश्लेषणात्मक विकास के मार्ग में अग्रसर हुई होगी।

भाषा के इस विकास के दो रूपों का लगभग साथ-साथ विकास हुआ

होगा। एक पक्ष एकाक्षर ध्वनियों के संयोग से वस्तुओं,क्रियाओं,भावों आदि के प्रतीकों के रूप में संश्लिष्ट शब्दों का निर्माण है। दूसरा पक्ष एकाक्षर ध्वनियों और शब्दों में वर्ण-ध्वनियों के विवेक की प्रक्रिया। भाषा के व्यवहार द्वारा शब्द प्रतीक परम्परा में रूढ़ होते गये। वर्ण-विवेक बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रिया का फल है। शब्द- रूपों की व्याकरण व्यवस्था भी विश्लेषणात्मक और बौद्धिक है। विश्लेषणात्मक नियम-विधान भी बौद्धिक है।

शब्द-रूपों में गुंजित ध्वनि का नादात्मक सौन्दर्य भाषा का कलात्मक पक्ष है। लिपि का रूप भी कलात्मक है। व्यावहारिक होते हुए भी सभी लिपियों को रूप के अतिशय की रचना मानना होगा,जो कला का स्वरूप है,देवनागरी,ग्रीक, बंगला लिपियाँ अन्य लिपियों से अधिक सुन्दर हैं। शब्दों के संगीतात्मक,नादात्मक, भावाभिव्यंजक आदि ध्वनियों के रूप-विधान में भी भाषा का कलात्मक रूप विकसित हुआ है।

मनुष्य के उच्चारण-यन्त्र की विकसित क्षमता से उत्पाद्य ध्वनियों के प्राकृतिक आधार में आत्मिक साम्य और सांस्कृतिक संकल्प की प्रेरणा से दाम्पत्य और समाज व्यावहारिक एवं आन्तरिक अपेक्षाओं और आकांक्षाओं के सन्दर्भ में मनुष्य की बौद्धिक वृत्ति एवं प्रतिभा के योग से रचनात्मक कला के सम्पुट से युक्त विश्लेषणात्मक ध्वनि-प्रतीकों की सार्थक व्यवस्था के रूप में मानवीय भाषा का अभ्युदय हुआ है।

(घ) भाषा के विकास की दिशाएँ एवं संस्कृति

भाषा के विकास के दो रूप हैं। एक भाषा के विकास का आरम्भिक रूप है जिसमें एकाक्षर मंत्र ध्वनियों से विश्लेषण प्रणाली द्वारा भाषा का मूल निर्मित हुआ। इस मूल रूप के पश्चात् शब्दों के व्याकरण विधान,वाक्य विधान,शब्दों के अर्थ सन्दर्भ तथा समृद्ध सांस्कृतिक सन्दर्भ के विकास का नया और प्रौढ़ चरण आरम्भ होता है। वैदिक संस्कृत भाषा के सन्दर्भ में वर्णों का दार्शनिक तन्त्र,शब्द का आध्यात्मिक दर्शन,वर्ण ध्वनियों का वर्ण तुल्य उच्चारण,वर्ण ध्वनि के अनुकूल सन्धियों और शब्द रूपों का व्याकरण,व्याकरण-दर्शन,शब्दों के पर्याय,शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ आदि प्रौढ़तर विकास-चरणों की गति का अंकन करना होगा। यूरोपीय भाषाओं का विकास इन दिशाओं में अधिक नहीं हुआ। वे वर्ण-विवेक तक नहीं पहुँच सकीं न संस्कृत की भाँति वर्ण-विधान पर

उनकी रचना आश्रित है। मातृयुग के एकाक्षर मंत्रों की ध्वनियों के संयोग से उनके शब्द बने हैं। उनकी प्रकृति एकाक्षरी से शाब्दिक हो गई। सम्पूर्ण शब्द एक समग्र ध्वनि योजना में गुम्फित हैं। व्यावहारिक उच्चारण में इस समग्र ध्वनि योजना में एकाक्षर ध्वनि-ग्राम भी विविक्त नहीं रहते। ये ध्वनिग्राम शब्द की समग्र ध्वनि-धारा में तंरगों के समान तन्मय हो जाते हैं। फ्रेंच भाषा में तो वाक्य का भी एक समग्र प्रवाह बन जाता है किन्तु यूरोपीय भाषाओं की इस समग्र ध्वनि-योजना तथा उच्चारण की द्रुतलय के कारण स्वर का एक ऐसा अतिशय उदित हुआ है जो भारतीय भाषाओं में बंगला के अतिरिक्त नहीं मिलता। लौकिक संस्कृत और उससे उत्पन्न हिन्दी उस स्वर योजना से रहित होने के कारण स्वर की दृष्टि से दीन अत: श्रवण में नीरस हो गई हैं। वैदिक संस्कृत का स्वर भाषा का अन्तरंग विधान नहीं है वरन् वह एक अतिरिक्त अतिशय है जो आरोपित होने पर भी वैदिक मन्त्रपाठ में संगीत का सौन्दर्य समाहित करता है। यह संगीतात्मक स्वरातिशय ही है जो मातृयुग के एकाक्षर बीज मंत्रो से वैदिक संस्कृत को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ। एकाक्षर बीजमंत्रों में संगीतात्मक स्वरातिशय संस्कृत में वर्ण-विवेक के स्वर विश्लेषण में लुप्त हो गया। यूरोपीय भाषाएँ वर्ण-विवेक की भूमिका पर आश्रित नहीं हैं,अत: उनमें यह समवेत स्वरातिशय अन्तर्गत विधान के रूप में बना रहा तथा भाषा की शाब्दिक ध्वनि-व्यवस्था में समाहित होकर एकाक्षर बीज-मंत्रों से भी अधिक घनिष्ठ रूप में समवेत हो गया तथा भाषा का सहज अन्तरंग विधान बन गया।

शब्दों,शब्द-रूपों तथा शब्दों के व्याकरण विधान की रचना एवं व्यवस्था सभी भाषाओं के विकास की दिशा रही हैं। आरम्भ में शब्द-निर्माण का प्रयोजन व्यावहारिक एवं भावनात्मक अधिक रहा होगा। सभ्यता और विचार के विकास के साथ विचारात्मक शब्दों का भी निर्माण हुआ होगा। आधुनिक युग में सभ्यता और विज्ञानों का वेगपूर्वक विकास हुआ है साथ ही यूरोपीय भाषाओं के शब्दकोश भी वेग से बढ़े हैं। जापान ने अपनी भाषा के शब्द-खण्डों के योग से ही जापानी वैज्ञानिक शब्दावली गढ़ कर विज्ञानों और उद्योगों की दिशा में भी आश्चर्यजनक प्रगति कर ली। भारतीय भाषाओं में संस्कृत के सहयोग से कुछ वैज्ञानिक शब्द बनाने का प्रयत्न किया गया है तथा कुछ शब्द ज्यों के त्यों अंग्रेजी से लिये गये हैं। इस सन्दर्भ में शब्दों और भाषा के विकास की दिशा में एक सांस्कृतिक विभा का संकेत कर देना उचित है। शब्दों में ऐतिहासिक और अर्थपूर्ण

सांस्कृतिक सन्दर्भ समाहित होते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त प्रयोग व्यवहार और जीवन के उत्कर्ष से भाव से अर्थातिरिक्त अतिशय भी उदित होते हैं। सांस्कृतिक और सजीव होने के कारण इन भावातिशयों की विशिष्ट भंगिमाएँ होती हैं जो यथार्थ अर्थ का अलंकरण करती हैं। संस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं में भाव का यह अतिशय विपुलता से विकसित हुआ है। इनके शब्दों की शक्ति, शालीनता, गरिमा और द्युति मनुष्य के व्यक्तित्व के गुणों के समान सहज प्रभावित करती हैं। भाषा के सांस्कृतिक विकास की यह एक महत्वपूर्ण विभा है जो प्रत्येक भाषा और उसके शब्दों को भाषा-भाषी देश के नागरिकों के समान एक विशिष्टता प्रदान करती है। भाषा के इस सांस्कृतिक विशिष्टता के संस्कार भाषा-परिवार की देन नहीं वरन् प्रत्येक भाषा और देश का अपना अर्जन है। जाति संकट,भाषा संकट तथा प्रगति के अवरोध के कारण हिन्दी भाषा में यह सांस्कृतिक विभा मन्द हो गई अत: भाषा की सजीवता कम हो गई तथा नये शब्दों का सजीव समायोजन कठिन हो गया।

सांस्कृतिक संस्कारों के अतिरिक्त प्रत्येक भाषा की एक आत्मा होती है। आत्मा जीवन का व्यापक सत्य है जो शरीर में व सभी जीवों में व्याप्त रहती है। आत्मा से सभी जीव एकता के सूत्र मे बंधते हैं। भाषा के विकास के साथ इसकी आत्मा की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य की भाषाओं में आत्मा का अभ्युदय हुआ है। आत्मा के सजीव सूत्र से नये शब्दों से सदैव सम्पन्न होने वाली भाषा में एकता का सूत्र पिरोया रहता है। संकट के कारण हिन्दी भाषा की आत्मा दुर्बल हो गई। खड़ी बोली की आदि आत्मा संस्कृत है,फारसी के प्रभाव से संकट हो जाने के कारण हिन्दी भाषा आत्मा के द्वैत से पीड़ित है।

भाषा के इतिहास में मूल भाषा से उपभाषाओं का विकास माना जाता है। यह इतना सत्य नहीं है। विभिन्न देशों की अपनी आदिम भाषाएँ रही होंगी जो उन भाषाओं के सहयोग से विकसित हुई हैं जिन्हें मूलभाषा कहा जाता है। विभिन्न उपभाषाओं का उदय भाषा के मध्यकाल की गाथा है। आधुनिक काल मे अब नवीन उपभाषाओं के उदय की इतनी संभावना नहीं है। आज साहित्यिक बनकर सभी भाषाएँ रूढ़ और स्थायी बन गई हैं। अब भाषाओं का विकास कम और उनके साहित्य का विकास अधिक हो रहा है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 74

2. वही, पृष्ठ संख्या 76
3. डॉ.भोलानाथ तिवारी-भाषा-विज्ञान, पृष्ठ संख्या 44-45
4. वही, पृष्ठ संख्या 46
5. वही, पृष्ठ संख्या 45
6. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान, पृष्ठ संख्या 109
7. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान, पृष्ठ संख्या 112
8. श्री दुर्गासप्तशती-पृष्ठ संख्या 24
9. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान, पृष्ठ संख्या 115
10. गुणानन्द जुयाल-हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 108

अध्याय-5

भाषा ,वर्ण और संस्कृति

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भाषा के किसी भी पक्ष का विवेचन करने के लिए संस्कृति की सामान्य धारणा को उस पक्ष में घटित करना होगा। संस्कृति मनुष्य की रचना है। वह आत्मिक संकल्प से प्रेरित मनुष्य की कृति है। संकल्प की स्वतंत्रता और तज्जन्य विविधता की दृष्टि से वह नियति से नियंत्रित प्रकृति की एक रूप प्रक्रियाओं से भिन्न है। रूपों और भावों के सौन्दर्यपूर्ण अतिशयों में संस्कृति की रचनाएँ साकार होती हैं। भाषा मनुष्य की एक सांस्कृतिक उपलब्धि है। मनुष्य की सांस्कृतिक रचना होने के कारण भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। मुख के उच्चारण यंत्र तथा उनसे उत्पाद्य सामान्य ध्वनियों की दृष्टि से भाषा का आधार प्राकृतिक है किन्तु इन ध्वनियों से निर्मित विभिन्न शब्दों की विभिन्न भाषाएँ सांस्कृतिक रचनाएँ हैं। इन सांस्कृतिक रचनाओं में प्राकृतिक आधार के साथ आत्मिक संकल्प,बौद्धिक व्यवस्था और कलात्मक रूप सौन्दर्य का सहयोग रहता है। आत्मिक संकल्प सांस्कृतिक रचना की मूल प्रेरणा है। बौद्धिक व्यवस्था उसका नियम और व्यवहार्य विधान है। बिना बौद्धिक नियम-व्यवस्था के संस्कृति की विशिष्ट रचनाओं का व्यावहारिक उपयोग सम्भव नहीं हो सकता। बुद्धि मनुष्य के जीवन और व्यवहार का एक आवश्यक तन्त्र है। भारतीय सांख्य दर्शन बुद्धि को प्रकृति का परिणाम मानता है। मनुष्य की सांस्कृतिक रचनाओं में आत्मिक संकल्प की प्रेरणा, रूप सौन्दर्य का विधान होने के साथ बौद्धिक योजना,नियम-व्यवस्था भी रहती है। बुद्धि का धर्म विश्लेषण है। भाषा की रचना में वर्ण-विधान और वर्णों के योग से शब्दों का निर्माण बुद्धि द्वारा ही हुआ है।

भाषा-विज्ञान मे भाषा का विवेचन वर्ण-ध्वनि को भाषा की मूल इकाई और भाषा का मूल उपादान मानकर किया जाता है किन्तु भाषा-विज्ञान की यह प्रणाली अवैज्ञानिक और भ्रामक है। ऐतिहासिक और स्वाभाविक दृष्टि से भाषा का आरम्भ वर्ण ध्वनियों से नहीं होता,जिस रूप में वे वर्णमाला में निर्धारित की गई हैं। वर्ण ध्वनियों की इकाइयों की विविक्तता मनुष्य के मुख से नि:सृत होने वाली ध्वनि- धारा का सहज लक्षण नहीं है। अपने स्वभाव और स्वरूप में यह ध्वनि-धारा एक समग्र और संश्लिष्ट प्रवाह के रूप में निकलती है। जल-धारा

की भाँति इसमें ध्वनि- भंगिमाओं की तंरगें आलोकित हो सकती हैं किन्तु वर्ण-ध्वनियों के जल-बिन्दुओं की विविक्त सत्ता उसमें नहीं होती। वर्ण-ध्वनियों का विवेक भाषा के मुखर रूप का स्वाभाविक लक्षण नहीं है। यह विवेक बुद्धि के विश्लेषण का चमत्कार है तथा भाषा की समग्रतापूर्ण ध्वनि योजना पर भाषा और सभ्यता की विकसित अवस्था में आरोपित किया गया है। यह वर्ण-विवेक संस्कृत भाषा की अनुपम विशेषता है। संस्कृत से पूर्व की भाषाओं में शायद यह वर्ण-विवेक न रहा हो।

यह सत्य है कि वैदिक संस्कृत का जो रूप वैदिक संहिताओं में सुरक्षित है उसकी ध्वनि-व्यवस्था वर्ण-विवेक पर आश्रित है। संस्कृत भाषा का वह रूप वर्ण-विवेक के निश्चित होने के बाद ही बना है। वैदिक संस्कृत में वर्ण-विवेक पूर्व की भाषा की ध्वनियों के कुछ संस्कार शेष हैं। अनेक भारतीय भाषाओं में संस्कृत के अनेक शब्द ज्यों के त्यों तत्सम रूप में विद्यमान हैं। कुछ लोग प्राकृत भाषाओं को संस्कृत से प्राचीनतर मानते हैं। इनमें अनेक संस्कृत शब्द अपभ्रंश रूप में मिलते हैं किन्तु ये शब्द बाद में संस्कृत से लिये गये होंगे फिर भी यह संभव है कि प्राकृत का कोई रूप संस्कृत से पूर्व रहा हो। इन भाषाओं में वर्ण-ध्वनियाँ उतनी अधिक स्पष्ट नहीं रही होंगी जितनी संस्कृत में। अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का भी कोई रूप संस्कृत से पूर्व स्थानीय लोकभाषाओं के रूप में रहा होगा। इनमें वर्ण-ध्वनियाँ संस्कृत-तुल्य स्पष्ट नहीं रही होंगी। ध्वनियों की अस्पष्टता का प्रभाव इन भाषाओं के देशज शब्दों में दिखाई देता है।

वैदिक संस्कृत के वर्णिक रूप से पूर्व जो भाषाएँ रही होंगी उनका रूप मातृ-युग के बीज मंत्रों की भाँति एकाक्षरी रहा होगा। चीनी भाषा इन्हीं में से एक का विकसित रूप है। इन भाषाओं की एकाक्षरी व्यवस्था में तान्त्रिक बीज मंत्रों एवं चीनी भाषा की भाँति एक स्वर के केन्द्र में कुछ व्यंजन ध्वनियों के संयोग से निर्मित शब्द रहे होंगे। यही भाषा का आदि रूप है। मानव-शिशु ऐसी ही ध्वनियाँ अनायास रूप से बोलता है। इन्हीं ध्वनियों के साथ संगीत माता की अनर्थक लोरियों से बीज मंत्र और दोनों का विकास हुआ होगा। इन एकाक्षरी ध्वनियों के संयोग से यूरोप में शाब्दिक भाषा का विकास हुआ,जिसमें एकाक्षर ध्वनियाँ शब्द की समग्र-ध्वनि में तथा शब्द ध्वनियाँ वाक्य की ध्वनि धारा में निमग्न हो जाती हैं। यूरोपीय भाषाओं का विकास मुखर ध्वनि की अखण्ड प्रवाहमुखी वृत्ति के अनुरूप है अत: ये अधिक प्राकृतिक हैं। इनमें प्रकृति और संस्कृति के सुन्दर संगम वर्ण-

विवेक के लिए अपेक्षित बौद्धिक संकल्प का समुचित योग नहीं है।

(क) वर्ण ध्वनियाँ और मनुष्य का अध्यवसाय

वर्ण-ध्वनियों का स्पष्ट विवेक संस्कृत भाषा की ही अनुपम विशेषता है। संस्कृत भाषा की यह विशेषता जीवन के कई तत्वों का फल है। पश्चिमोत्तर भारत की समशीतोष्ण जलवायु में विलम्बित लय से मन्त्रोच्चारण सुकर था। दूसरा सामूहिक मंत्र पाठ की संस्कृति में भी लय को विलम्बित बनाने में योग दिया होगा। फल,अन्न, दुग्ध आदि के संघर्ष रहित काम करके सांस्कृतिक संकल्प पोषित किया होगा। ग्रीष्म ऋतु के दीर्घ दिवसों के दीर्घ प्रभात तथा अन्य अवकाश ने भी विलम्बित लय तथा ध्वनि-विश्लेषण की भूमिका रची होगी। यज्ञ संस्कृति और मंत्र साहित्य के संरक्षण हेतु आविष्कृत पाठ-विधियों में यह वर्ण-विवेक सुदृढ़ हुआ। इन अनेक कारणों से वैदिक भाषा और संस्कृति का यह अद्भुत् चमत्कार सम्भव हो सका। वस्तुत: मुख भाषा की ध्वनि धारा के अखण्डनीय प्रवाह में वर्ण-विवेक की व्यवस्था आर्यों के सांस्कृतिक वैभव,बौद्धिक उत्कर्ष का एक अनुपम प्रमाण है। यह चमत्कार संस्कृत की समृद्ध सांस्कृतिकता और मौलिक भारतीयता तथा उसके साथ बौद्धिक आर्यों की भारतीयता का भी समर्थन करता है।

अत: वर्ण-ध्वनियों का विवेक मनुष्य के विशेष अध्यवसाय का फल है। उसे एक सांस्कृतिक कृति मानना उचित है। वह आत्मिक संकल्प से प्रेरित बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा सम्भव हो सका है। भाषा की वर्णानुकूल योजना संस्कृत भाषा की अद्वितीय सांस्कृतिक विशेषता का प्रमाण है। अध्यवसाय के कारण यह संस्कृत में ही संभव हो सकी,अन्य भाषाओं में संभव न हो सकी। भाषा-वैज्ञानिक सभी भाषाओं का ध्वनि-विवेचन एक ही धरातल पर करते हैं किन्तु यह भ्रान्तिजनक है। सभी भाषाओं में समान वर्ण-ध्वनियाँ पायी जाती हैं परन्तु सब भाषाओं में इन वर्ण-ध्वनियों का वर्ण-रूप में पृथक्करण न हो सका और न संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के शब्द वर्ण-ध्वनियों के विविक्त रूपों के संश्लेषण से बने हैं जैसे संस्कृत के शब्द बने हैं। अन्य भाषाओं की वर्ण-ध्वनियाँ एकाक्षर ध्वनि समूहों तथा शब्दों की समग्र-ध्वनियों में मिश्रित हैं। इन समग्र ध्वनियों के संगीतात्मक रूपातिशयों की दृष्टि से इन भाषाओं को सांस्कृतिक कहा जा सकता है किन्तु वर्ण-ध्वनियों के मिश्रण की दृष्टि से ये सांस्कृतिक की अपेक्षा प्राकृतिक अधिक हैं। ध्वनि के रूपात्मक अतिशय

का सन्निधान इनमें अवश्य मिलता है किन्तु वर्ण-ध्वनियों के विवेक का बौद्धिक संकल्प इन भाषाओं को न मिल सका। वर्ण-ध्वनि की दृष्टि से इन भाषाओं का सांस्कृतिक रूप बौद्धिक-विधान की विभा से स्पष्टत: वंचित है। संस्कृत भाषा में वर्ण-विवेक मनुष्य के अध्यवसाय का फल है।

(ख) वर्ण-ध्वनियों के भेद

वर्ण-ध्वनियों के स्रोत मुख के उच्चारण यंत्र हैं। इस दृष्टि से वर्ण-ध्वनियाँ प्राकृतिक एवं सामान्य हैं इसलिए वे विभिन्न भाषाओं में लगभग समान रूप में मिलती हैं। ध्वनियों की भंगिमाओं में कुछ अन्तर रहता है। कुछ ध्वनियों की दृष्टि से भी भाषाओं में अन्तर है।" जैसे ट वर्ग की ध्वनियाँ अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं में नहीं हैं तथा तकार की ध्वनि अंग्रेजी भाषा में नहीं है। ध्वनियों के उपभेदों की दृष्टि से भाषाओं में अन्तर है। यूरोपीय भाषाओं की ए,ओ आदि माध्यमिक ध्वनियाँ तथा ज़,ग़,ड़,की ध्वनियाँ संस्कृत में नहीं हैं। हिन्दी में बाहरी प्रभाव से ये ध्वनियाँ आईं। अंग्रेजी,अरबी वर्णमालाओं में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। ग्रीक में कुछ महाप्राण ध्वनियाँ हैं,तो कुछ नहीं हैं। इस अन्तर के बाद भी अधिकांश भाषाओं में अधिकांश ध्वनियाँ समान हैं। आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, क, ग, च, ज, प, ब, म, य, र, ल, व, स, श, आदि ध्वनियाँ अधिकांश भाषाओं में मिलती हैं। "[(1)] वर्णमाला में विविक्त ध्वनियों के रूप में इनका स्पष्ट निर्धारण संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में नहीं किया गया है और न अन्य किसी भाषा के शब्दों के उच्चारण में ये वर्ण-ध्वनियाँ विविक्त रहती हैं।

ध्वनि की अखण्ड धारा में वर्ण-ध्वनियों का विवेक भाषा के इतिहास का एक चमत्कार है। यद्यपि उच्चारण यंत्रों के विन्यास के कारण वर्ण-ध्वनियों का उच्चारण मनुष्य के लिए सरल है किन्तु वाणी-प्रवाह में वर्ण-ध्वनियाँ शब्दों में मिश्रित होकर आती हैं। विविक्त वर्ण-ध्वनियों का उच्चारण जिस संयम,शिक्षा और अभ्यास की अपेक्षा करता है वह व्यावहारिक वाक् प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं है। यह अतिरिक्त अर्जन संस्कृत भाषा के निर्माण में समाहित है। मध्य युग में लेखन-प्रणाली का प्रचलन होने के बाद वर्ण-ध्वनियों के चिह्न पृथक-पृथक अंकित होने लगे किन्तु भाषा उच्चारण में वे ऐसे पृथक-पृथक नहीं होते। जब भाषा वाणी के ही रूप में रही होगी उस ध्वन्यावस्था में ध्वनि-धारा में वर्ण-ध्वनियों का पृथक्करण अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा संभव हुआ होगा।

सामान्यत: भाषा की वर्ण-ध्वनियों को स्वर और व्यंजन के रूप में विभाजित

किया जाता है किन्तु इनको परिभाषित करना कठिन है। पतंजलि और उनके समकालीन ग्रीक वैयाकरण थ्रैक्स के अनुसार स्वतंत्र उच्चारण के योग्य ध्वनियों को स्वर तथा उनके सहयोग से उच्चरित होने वाली ध्वनियों को व्यंजन कह सकते हैं।" इस परिभाषा पर आपत्ति के लिए चैक भाषा के स्वररहित वाक्य Stre,Prst,Skrz, Krk का उदाहरण दिया जाता है। "[2] किन्तु उक्त वाक्य के वास्तविक उच्चारण में कुछ स्वर तत्व का सन्निधान अवश्य होता होगा। यदि ये अपवाद मान्य भी हो तो भी परिभाषा का सामान्य सत्य सभी भाषाओं के अधिकांश शब्दों में प्रमाणित होता है। स्वर में वायु के अबाध प्रवाह तथा व्यंजन में वायु के अवरोध और घर्षण का भेद भी सामान्यत: सत्य है चाहे ये अवरोध ध्वनि-यंत्र का हो या मुख का। शुद्ध व्यंजन आकारहीन ध्वनि-तत्व हैं भाषा के यथार्थ रूप में स्वर ही ध्वनि को व्यवहार्य आकार देते हैं शब्दांत हलन्त वर्णों से व्यंजन ध्वनि की स्वतंत्रता प्रमाणित नहीं होती।

अस्तु स्वर और व्यंजन का भेद सामान्यत: सभी भाषाओं में निहित है। स्वर,व्यंजन की उक्त परिभाषाएँ भी सामान्यत: सत्य हैं। स्वर की ध्वनि स्वतंत्र संभव है किन्तु पदान्त-ध्वनि-पुच्छ को छोड़कर व्यंजन का स्वतंत्र उच्चारण सम्भव नहीं है। इस ध्वनि-पुच्छ का उच्चारण भी पूर्व-स्वर के सहारे संभव है। स्वर लचीली और कोमल ध्वनि है। वह व्यंजन में तदाकार हो जाती है और अभिन्न ध्वनि बन जाती है। व्यंजन कठोर ध्वनि है अत: व्यंजनों का संयोग होने पर भी उनकी ध्वनियाँ कुछ अलग रहती हैं। केवल स्वरों से शब्द बन जाते हैं जैसे आई,आओ किन्तु व्यंजनों से स्पष्ट शब्द नहीं बनते। लचीला होने से स्वर का स्वतंत्र उच्चारण सरल है किन्तु विभिन्न स्वरों का स्पष्ट विवेक कठिन है। स्वरध्वनियों का स्पष्ट निर्धारण दुष्कर है ये ध्वनियाँ अपनी सीमा रेखाओं से बाहर निकल कर अस्पष्ट रहना चाहती हैं। कठोर होने से व्यंजन-ध्वनियों की सीमा रेखाएँ स्पष्ट हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अरबी, ग्रीक तथा यूरोपीय भाषाओं की वर्णमालाओं में पूरी स्वर ध्वनियाँ नहीं हैं वे कई स्वरों के योग से बनाई जाती हैं।

वस्तुत: वर्णों के भेद में स्वर और व्यंजन भेद की तुलना में स्वरों की ह्रस्व-दीर्घ ध्वनियों का भेद अधिक महत्वपूर्ण है। संस्कृत वर्णमाला का क्रम ह्रस्व-दीर्घ स्वरों के अनुरूप है अन्य वर्णमालाओं में स्वर-व्यंजन का भेद भी स्पष्ट नहीं है।" अंग्रेजी में मेन (Man)का ए,केअर (Care)की स्वर-ध्वनि,स्काई (Sky) की आई, काउ (Cow)का आउ आदि स्वर-ध्वनियाँ अस्पष्ट हैं।"[3]

स्वरों का मिश्रण यूरोपीय भाषाओं की विशेषता है जो संस्कृत में नहीं पाई जाती। इसके कारण में संस्कृत में अपनाई जाने वाली वर्ण-विधान की प्रक्रिया है।" ज़,फ़,ग़,ड़ की थिरकती ध्वनियाँ संस्कृत में नहीं मिलतीं। ऋ,लृ,ञ,ङ की अस्पष्ट ध्वनियाँ भी मातृयुग के एकाक्षर बीज-मंत्रों के अवशेष हैं। "(4) जो संस्कृत की प्रकृति के अनुरूप नहीं है।

वर्ण ध्वनियों की स्पष्टता और अस्पष्टता का कारण जलवायु का प्रभाव और बौद्धिक संकल्प है। यूरोप तथा हिमालयोत्तर चीन की शीत जलवायु में विलम्बित उच्चारण तथा स्वर-यंत्रों का संयम कठिन होने के कारण वहाँ की भाषाओं में मिश्रित तथा अस्पष्ट ध्वनियाँ अधिक हैं। संस्कृत की मिश्रित ध्वनियाँ ए,ऐ,ओ,औ अपनी ध्वनि की सीमा मे स्पष्ट हैं। अंग्रेजी आदि भाषाओं में ये संयुक्त ध्वनियाँ भी स्पष्ट नहीं हैं।

(ग) वर्णमाला और भाषा

वर्णमाला भाषा की वर्ण-ध्वनियों का व्यवस्थित क्रम है। मोती,पुष्प आदि की एक सूत्र में आबद्ध क्रम की आलंकारिक संज्ञा माला है। संस्कृत भाषा बहुत सांस्कृतिक कलात्मक और आलंकारिक है। वर्णमाला शब्द का प्रयोग उसकी सांस्कृतिक प्रकृति के उदाहरण हैं। अंग्रेजी में वर्णमाला के लिए कोई सांस्कृतिक पद नहीं है तथा वर्ण की सामान्य संज्ञा से निर्मित भी कोई पद नहीं है। जिस **अल्फाबेट** पद का प्रयोग अंग्रेजी में वर्णमाला के लिए होता है वह वस्तुत: कोई वाचक पद नहीं वरन् ग्रीक भाषा की वर्णमाला के दो आदि वर्णों अल्फा और बीटा के संयोग से निर्मित एक सूचक शब्द मात्र है। वर्णमाला के लिए कोई वाचक संज्ञा न होना आरम्भ से ही वर्णमाला के साथ यूरोपीय भाषाओं के संबंध के बारे में सन्देह उत्पन्न करता है। भाषाओं की वर्ण संबंधी स्थिति का अधिक विश्लेषण इस सन्देह को और पुष्ट करेगा।

वर्णमाला में वर्ण-ध्वनियों को एक व्यवस्थित क्रम मे गुम्फित किया जाता है वह वर्णों का संकलन मात्र नहीं है वरन् उनका क्रमपूर्वक व्यवस्थापन है। इस क्रम में कोई सिद्धान्त होना चाहिए यद्यपि ग्रीक,अरबी,अंग्रेजी की वर्णमालाओं के क्रम में कोई सिद्धान्त नहीं दिखाई देता। वर्णों के वैज्ञानिक स्वरूप निर्धारण के बाद ही उनकी क्रम व्यवस्था किसी सिद्धान्त के अनुसार हो सकती है। शायद पश्चिमी भाषाओं में वर्णों के वैज्ञानिक स्वरूप का

निर्धारण न हो सका। इसी कारण इन भाषाओं में वर्णों की व्यवस्था किसी सिद्धान्त के अनुसार न हो सकी।

वर्ण,ध्वनियों की इकाइयाँ हैं। बौद्धिक विश्लेषण द्वारा इनका निर्धारण हो सकता है मनुष्य के उच्चारण यंत्र में वर्णों के उच्चारण की सहज क्षमता है,यद्यपि वह सामाजिक परम्परा की प्रेरणा के बिना स्वत: विकसित नहीं होती।" भेड़ियों में पालित बालक के उदाहरण से यह प्रमाणित है। "(5) ध्वनियों का प्रवाह एक अखण्ड धारा के रूप में होता है। कोई भी ध्वनि तरंगित धारा के समान होती है इसमें खण्डों का विभाजन व पृथक निर्धारण कठिन होता है। संगीत में जिन स्वर-ध्वनियों का विभाजन किया गया वस्तुत: वे स्वर बिन्दु नहीं वरन् तीव्रता के स्वरग्राम हैं। संगीत की लय के उतार-चढ़ाव के कारण इसका विश्लेषण संभव हो सका है किन्तु ध्वनि की वर्णात्मक इकाई का विश्लेषण कठिन है क्योंकि भाषा की ध्वनि-धारा में संगीत का सा उतार-चढ़ाव आवश्यक नहीं होता। यूरोपीय भाषाओं के एकाक्षर ध्वनियों के ध्वनि-ग्रामों का विश्लेषण तो हो सका है किन्तु वर्णों की ध्वनियों का पृथक्करण न हो सका। वर्णमाला का अवैज्ञानिक क्रम इसका समर्थन करता है।

संस्कृत भाषा का वैदिक रूप वर्णों के विश्लेषण के बाद रूढ़ हुआ है उससे पूर्व-अवस्था के विषय में कहना कठिन है। भाष की ध्वनियों के मिश्रित और अनिश्चित रूप से वर्ण-विश्लेषण तक पहुँचना कठिन है। एकाक्षर मंत्र-बीजों के विलम्बित उच्चारण से वर्ण-ध्वनियों का सूत्र सन्धान संभव हो सकता है इसी मार्ग से संस्कृत भाषा की वर्णात्मक भूमिका बनी। वर्णात्मक भूमिका के आधार पर ही वर्णमाला की वैज्ञानिक योजना में वर्ण-ध्वनियों का व्यवस्थित गुम्फन सम्भव हो सका। लिपि के आविष्कार से पूर्व वर्ण-ध्वनियों का विश्लेषण अत्यन्त कठिन है यह संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में संभव न हो सका। वर्ण-विश्लेषण और वर्णमाला दोनों संस्कृत भाषा के अद्भुत चमत्कार हैं।

संस्कृत वर्णमाला में वर्णों का क्रम अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह क्रम प्राकृतिक नहीं वरन् सांस्कृतिक है। संस्कृति मनुष्य की संकल्प जन्य रचना है जो प्राकृतिक क्रम में संयम,नियंत्रण,नियम,व्यवस्था आदि के द्वारा विशेष रूप ग्रहण करती है। प्राकृतिक प्रवृत्ति का क्रम सर्वत्र सामान्य होता है। संस्कृति की रचना आत्मिक संकल्प की प्रेरणा तथा उसके प्रकाशन व नियंत्रण से होती

है। बौद्धिक संकल्प उसमें व्यवस्था का अनुष्ठान करता है। संस्कृत वर्णमाला में वर्णों का जो क्रम मिलता है वह सहज और स्वाभाविक नहीं है। उस क्रम का उच्चारण में निर्वाह करने के लिए संकल्पजन्य संयम,नियंत्रण और अनुशासन का प्रयोग अपेक्षित होता है। अ,इ के उच्चारण में कण्ठ के बाद तालु पर जीभ को रोकना पड़ता है। क,ख,ग आदि एक वर्ग के पाँचों वर्णों को निरन्तर क्रम में बोलना भी कठिन है। ध्वनियों के उच्चारण-संस्थानों एवं उनसे सम्बन्धित मस्तिष्क केन्द्रों की यह प्राकृतिक विशेषता है कि एक ही उच्चारण संस्थान से एक या अधिक बार समान ध्वनियों का उच्चारण असुविधाजनक होता है। भाषाओं में एक ध्वनि की आवृत्ति वाले शब्द बहुत कम हैं। काव्य में एक वर्ण की एक शब्द में आवृत्ति को नहीं वरन् शब्दों के आदि वर्णों में आवृत्ति को अनुप्रास की संज्ञा दी जाती है। कदाचित् ध्वनि यंत्र सूक्ष्म होने के कारण जल्दी थक जाता है। " जैसे छोटे कदमों से चलने में कठिनाई होती है वैसे ही सन्निकट के उच्चारण-संस्थानों से उच्चार्य ध्वनियों का आनन्तर्य भी दुष्कर होता है। "(6) परंपरा दूरस्थ उच्चारण-संस्थानों से उच्चार्य ध्वनियों का आनन्तर्य सुगम होता है। अधिकांश भाषाओं की रचना इसी सुगमता के आधार पर है।

संस्कृत वर्णमाला में ये प्रवृत्ति विद्यमान है। संस्कृत वर्णमाला में वर्णों का क्रम विधान उच्चारण-संस्थानों के क्रम के अनुसार किया गया है। सर्वप्रथम कण्ठ्य अकार है फिर तालव्य इ है तदुपरान्त ओष्ठ्य **उ** है। ए,ओ के संयुक्त स्वर भी इसी क्रम में हैं व्यंजन वर्णों में भी कण्ठ्य **क** वर्ग प्रथम,तालव्य **च** वर्ग द्वितीय है,मूर्धन्य ट वर्ग उसके बाद है,दन्त्य **त** वर्ग उसके बाद है। सभी स्वर भी व्यंजन-वर्णों के अनुरूप कण्ठ्य **अ**, तालव्य स्वर **इ** फिर मूर्धन्य **ऋ** तथा दन्त्य लृ के स्वर आते हैं। संस्कृत वर्णमाला में वर्णों का क्रम उच्चारण-संस्थानों की स्थिति के अनुरूप है। स्थान-क्रम में कण्ठ के बाद तालु फिर मूर्धा,मूर्धा के बाद दन्त फिर ओष्ठ हैं। ये उच्चारण-स्थान उक्त क्रम में एक-दूसरे के सन्निकट हैं अत: संस्कृत की वर्णमाला वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक है। यह भाषा की प्रौढ़ अवस्था और क्षमता का द्योतक है।

(घ) वर्णमाला,उच्चारण और लिपि

वर्णमाला में वर्णों के क्रम और उनकी व्यवस्था के साथ-साथ वर्णों के तद्रूप उच्चारण एवं लेखन का प्रश्न भी विचारणीय है। भाषाओं के विकास में वर्णानुसार उच्चारण का अनुष्ठान तो शायद संस्कृत भाषा में ही हो सका है। अन्य

भाषाओं में उच्चारण की ध्वनियाँ संश्लिष्ट और समग्र होती हैं। एकाक्षर ध्वनि ग्रामों या शब्द ग्रामों में वर्णों की ध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई नहीं देती हैं किन्तु चीनी चित्र भाषाओं को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं का लेखन वर्णानुकूल लिपि में होता है। जिन भाषाओं की ध्वनि-व्यवस्था शाब्दिक है तथा वर्णानुसार नहीं है उन भाषाओं में वर्णानुकूल लिपि में भाषा का लेखन कैसे आरम्भ हुआ,यह भाषा-विज्ञान का एक कूट प्रश्न है। भाषा-विज्ञान में लिपि की समस्या पर तो विचार किया गया है किन्तु भाषा की वर्ण-व्यवस्था से सम्बद्ध कर उसका विवेचन नहीं किया गया अत: लिपि का विवेचन एकांगी व निर्णय सन्देहास्पद हैं। लिपि का अंकन वर्णानुसार होने से लिपि के प्रश्न का समुचित विवेचन वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ में ही सम्भव है।

लिपि के आविष्कार की खोज भाषा के अंकित प्राचीन अवशेषों के आधार पर की जाती है। ये प्राचीन अवशेष सिन्धुघाटी की मुद्राओं,हित्ताइदी मुद्राओं, मिस्र के पिरामिड़ो एवं ताबूतों के अभिलेखों तक पहुँचते हैं। लिपि की बनावट तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर लिपियों के संबंध और संचार की गवेषणा की जाती है। इस वैज्ञानिक प्रणाली में बहुत कुछ संगति रहती है किन्तु सभी आगमनात्मक विधियों की भाँति इसके निर्णय भी संदिग्ध रहते हैं। सांस्कृतिक तर्क-प्रणाली से भाषाओं की अन्य समस्याओं की भाँति लिपि के प्रश्न पर भी कुछ नवीन प्रकाश पड़ सकता है।

जिस प्रकार भाषा का उच्चारण प्राकृतिक और सहज है उसी प्रकार लिपि का आलेखन मनुष्य के लिए स्वाभाविक और सहज है। आदिम चित्रकला के उदाहरणों से विदित होता है कि अत्यन्त आदिमकाल में मनुष्य ने रेखांकन प्रारम्भ कर दिया था। बालक भी हाथ में कलम पेंसिल आ जाने पर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचने लगता है। आलेखन आदिम संस्कृति की एक व्यापक प्रथा है। लेखन सामग्री किसी न किसी रूप में आदिम काल में भी दुर्लभ न होगी। इस स्थिति में आलेखन में अनुकरण की आवश्यकता दिखाई नहीं देती। सभी समाजों में उसके स्वतंत्र प्रारम्भ की कल्पना की जा सकती है।

प्रश्न सामान्य आलेखन की क्षमता या कुशलता का नहीं वरन् भाषा के आलेखन का है। सामान्य आलेखन दृश्य रूपों का अनुकरण या अंकन है किन्तु भाषा का आलेखन ध्वनि का रूपात्मक अंकन है। वह ध्वनि के आकारों का रूपात्मक रेखाओं में अनुवाद है। आज वैज्ञानिक विकास के शिखरों पर सूक्ष्म एवं जटिल

यंत्रों के द्वारा यह अनुवाद संभव हो सकता है। प्राचीन काल में आदिम ने बिना यंत्र के हाथ से यह अनुवाद किया होगा तो सभ्यता के इतिहास में नये कल्प का आरम्भ हुआ होगा। यह मनुष्य की किस प्रतिभा का चमत्कार है यह एक गम्भीर प्रश्न है।

भाषाओं के लिप्यात्मक अंकन में चित्रलिपि को छोड़कर अधिकांश लिपियों का आलेखन वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल है। चाहे देवनागरी के समान वर्ण अलग हों चाहे यूरोपीय लिपियों के समान मिले हुए हों किन्तु शब्दों के आलेखन में वर्ण विविक्त होते हैं। लिपि का विधान वर्ण-विवेक के अनुरूप तथा उस पर आधारित है जिसके परिणाम बड़े गम्भीर होंगे क्योंकि भाषा-विज्ञान में वर्ण-विवेक और लिपि के तदनुकूल होने के तथ्य को ध्यान नहीं दिया गया जबकि इन तथ्यों पर समुचित ध्यान देना आवश्यक है।

यूरोपीय भाषाएँ शाब्दिक हैं शायद संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जो वर्ण-विवेक की स्थिति तक पहुँच सकी। इस तथ्य से वर्ण-विवेक और तदनुसार लिपि के आलेखन के आविष्कार की सम्भावना संस्कृत के पक्ष में दिखाई देती है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में लिपि-आलेखन प्रणालियों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है। यूरोपीय भाषाओं की शब्दात्मक ध्वनि प्रणाली स्वरूप से वर्णात्मक लिपि अंकन के अनुकूल नहीं है। वर्णात्मक लिपि-अंकन में वर्णानुसार ध्वनियों के विवेक का पूर्वाधार अपेक्षित है। यूरोपीय भाषाओं में यह पूर्वाधार प्राप्त नहीं हो सका,न एकाक्षरी चित्र भाषाओं में संभव हो सका। चीनी आदि चित्र भाषाओं में वर्णानुसारी लिपि का अनुष्ठान नहीं हो सका। यूरोपीय भाषाओं में जिस लिपि का अनुष्ठान हुआ वह भी अनेक असंगतियों से आक्रान्त है। चार प्रकार की लिपि प्रणाली तथा वर्ण-ध्वनियों के रूपात्मक आलेखन की अनियमितताएँ इन असंगतियों में मुख्य हैं। अंग्रेजी में ये असंगतियाँ सर्वाधिक हैं। इससे विदित होता है कि संस्कृत के नैकट्य और प्रभाव से पश्चिमी भाषाओं में जो लिपि का अनुग्रहण हुआ वह पश्चिमाभिमुख संचार में इंग्लैण्ड तक पहुँचते-पहुँचते अत्यन्त क्षीण हो गया। ग्रीक और लैटिन की तुलना में फ्रेंच आदि में असंगतियाँ अधिक हैं। इसका कारण भौगोलिक व्यवधान और संचार-प्रभाव की मन्दता है।

अंग्रेजी भाषा में स्वरों की ही नहीं व्यजंनों की भी ध्वनियों के वर्णात्मक निरूपण तथा लिपि-अंकन की कोई एकरूप प्रणाली नहीं है जैसी संस्कृत में

मिलती है। अकार की ध्वनि ए(A),यू(U),ई(E),आई(I)तथा ओ(O)के द्वारा अनियमित रूप से अंकित की जाती है। सी(C),जी(G),एस(S)आदि वर्ण दो प्रकार की ध्वनियों का निर्देश करते हैं। संस्कृत के ईकार,उकार,एकार, ओकार आदि ध्वनियों का निरूपण भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है।" सील(seal),हील (heal),रिसीव(recieve),वुड (wood),शुड (should),पुट (put),होप (hope), सोल (soul), आदि शब्द अनियमितता के उदाहरण हैं। हेट (hate), सेल (sale), शब्दों में एक स्वर ध्वनि को दो स्वर-वर्णों से निरूपित कर बीच में व्यंजन का व्यवधान भी अवैध है। "[7] शब्दोच्चारण में लिपि में अंकित वर्ण-ध्वनियों का विलोप भी शोचनीय है। फ्रेंच भाषा में यह अंग्रेजी से अधिक तथा जर्मन भाषा में बहुत कम है। सबसे असंगत बात ये है कि वर्णमाला और शब्दलिपि में वर्ण-ध्वनियों का अंकन उन वर्णों द्वारा होता है जो उनके अनुरूप नहीं हैं।

इसके विपरीत संस्कृत भाषा में शब्दों का आलेखन वर्ण-ध्वनियों के अनुरूप होता है। उसमें कोई अनियमितता और असंगति नहीं है। हिन्दी में जो असंगतियाँ हैं वे पश्चिमी भाषाओं के प्रभाव से हैं। शब्दों के आलेखन में ही नहीं संस्कृत वर्ण-माला में वर्णों के उच्चारण में भी कठोर वैज्ञानिक संयम और नियमितता का निर्वाह किया गया है। वर्णमाला में वर्णों के उच्चारण की ध्वनि भी वर्णों की वास्तविक ध्वनि के समान है। ऐसा यूरोपीय वर्णमालाओं में नहीं होता है। " उनमें वर्ण-ध्वनियों का उच्चारण शब्दों के समान होता है जैसे-अल्फा,बीटा, डेल्टा, एफ, एल, क्यू, आर, एस, जेड,आलिफ आदि। "[8] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत के समान यूरोप में वर्ण-ध्वनियों का स्पष्ट विवेक नहीं हो सका। यहाँ वर्णमाला के विधान और उच्चारण में यूरोपीय भाषाओं की रूढ़ शाब्दिकता का प्रभाव प्रत्यक्ष है,जिससे ऊपर उठकर ये भाषाएँ वर्ण-विवेक की कठोर सीमा तक नहीं पहुँच सकीं।

लिपि-आलेखन की प्रणालियों का भेद भी उक्त धारणा का समर्थन करता है। यूरोपीय भाषाओं में हाथ से लिखने और छापने के अक्षर अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त लिखने के अक्षर विविक्त होते हुए भी एक रेखा चक्र में समाहित होकर सम्पूर्ण शब्द को उसी प्रकार जटिल इकाई बना देते हैं जैसे कि इन भाषाओं के शब्द उच्चारण मे बन जाते हैं। आलेखन की यह प्रक्रिया भाषाओं की शाब्दिकता के अनुरूप है। अरबी में भी ऐसा ही होता है। लिखित शब्द की अस्पष्टता भी उच्चरित शब्द की

अस्पष्टता के समान है। इसके विपरीत देवनागरी के आलेखन में वर्णों की विविक्तता विलोकनीय है। हस्तलिखित ग्रंन्थों में शिरोरेखा भी वर्णानुसार विभक्त है। आलेखन की लिपि का सूत्र भी संस्कृत भाषा की मौलिकता सिद्ध करता है।

(ङ) वर्ण,अर्थ,व्याकरण और तन्त्र

लिपि में अंकित वर्ण मुखर ध्वनियों के **चिह्न** मात्र हैं। इससे अधिक उनका और कोई अर्थ नहीं है। उनका मूल्य केवल प्रतीकात्मक और ध्वन्यात्मक है। वर्णों से निर्मित शब्द वस्तुओं,क्रियाओं आदि के वाचक प्रतीक बन गये हैं। यह शब्दों के अर्थ का व्यवहार परम्परा में रूढ़ तात्पर्य है किन्तु वर्णों का अपने आप में ध्वनि से अधिक कोई अर्थ नहीं है। उच्चतर गणित में ग्रीक भाषा के वर्णों का गणितीय अर्थों में प्रयोग होता है। इन ग्रीक वर्णो को गणितीय अर्थों का प्रतीक मान लिया गया है। किसी भी भाषा के वर्ण इस प्रकार के प्रतीक बन सकते हैं किन्तु अपने आप में भाषा के सन्दर्भ में वर्ण किन्हीं भी अर्थो के प्रतीक नहीं हैं,वे केवल ध्वनियों के प्रतीक हैं। वर्णों की अनर्थकता सामान्यत: सभी भाषाओं के सन्दर्भ में सत्य है किन्तु संस्कृत की वर्णमाला इस प्रसंग मे एक अपवाद है।" अंग्रेजी वर्ण-माला का ए(A)वर्ण अभाव का बोधक है जैसे संस्कृत भाषा में प्रथम वर्ण **अ** के योग से अमृत,अजर,अज, अतल, अभय आदि अभाव बोधक शब्द बनते हैं। वैसे ही अंग्रेजी में ए (A) के योग से एपैथी(Apathy),एमोरल (Amoral)आदि अभाव-बोधक शब्द बनते हैं। "[9] सम्भव है अंग्रेजी में यह प्रयोग संस्कृत भाषा के प्रभाव से आया हो। संस्कृत में अकार ब्रह्म का वाचक है ब्रह्म जगत् का निषेध है। संस्कृत का यह वर्ण-तंत्र अकार के अभाव-बोधक अर्थ की मौलिक भारतीयता सिद्ध करता है। अंग्रेजी में इस अर्थ का प्रयोग अनुग्रहण प्रमाणित होता है।" अंग्रेजी का आई(I)वर्ण और है जो अहम् अर्थात् मैं का वाचक है। "[10] इन दो वर्णों के अतिरिक्त अंग्रेजी या अन्य किसी भी भाषा में अन्य वर्णों का कोई अर्थ नहीं है। आई(I)के समान स्वतंत्र एवं सार्थक प्रयोग शायद ही किसी वर्ण का किसी भाषा में होता हो।

संस्कृत भाषा और वर्णमाला की एक विशेषता और है कि इसके अनेक वर्ण शब्दों के तुल्य सार्थक हैं तथा शब्दों के समान अर्थ का वहन करते हैं। क, ख, ग, घ, ज, द, ध, प, भ, ल, स, क्ष, त्र, ज्ञ इन चौदह वर्णों

की सार्थकता संस्कृत भाषा में सामान्य रूप से स्वीकृत है। इन वर्णों के अर्थ आरोपित, प्रतीकात्मक, सायास या सन्दिग्ध नहीं वरन् समस्त भाषा के व्यवहार में इनकी सार्थकता प्रमाणित है। संस्कृत भाषा के अनेक शब्द इन वर्णों की सार्थकता के सर्वमान्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

" **क** का अर्थ करने वाला या उत्पन्न करने वाला है जैसे जनक,पालक, घातक, रक्षक आदि। **ख** का अर्थ आकाश है। **ग** का अर्थ गमन करने वाला है खग शब्द दोनों का उदाहरण है। इसका अर्थ आकाश में गमन करने वाला अर्थात् पक्षी है। **घ** का अर्थ घनीभूत अर्थात् संचित होने वाला है। पाप को अघ कहते हैं क्योंकि वह संचित नहीं होता उसका भोग से क्षय होता है। ज वर्ण जन्म का वाचक है जैसे जलज,अंडज,अज। **द** वर्ण दान का द्योतक है जैसे जलद, नीरद, धनद **ध** का अर्थ धारण करना है। **प** पालन का वाचक है। जैसे भूप,नृप। **भ** वर्ण का प्रयोग ज्योतिष में नक्षत्र के अर्थ में होता है। **ल** का अर्थ लय होना है। **स** का अर्थ सहित है। **क्ष** क्षति का वाचक है। **त्र** त्राण का वाचक है। **ज्ञ** ज्ञान का द्योतक है जैसे-अज्ञ,विज्ञ,सर्वज्ञ आदि। "(11) " ब्रह्मसूत्र में **ज्ञ** वर्ण का प्रयोग शब्द के समान ज्ञान के अर्थ में हुआ है। "(12)

उपसर्ग और प्रत्यय के समान शब्द-खण्डों के रूप में ये शब्दों के साथ मिलकर शब्द बनाते हैं। चल,छल,अट,घट,मठ,फल,बल,मल आदि में च,छ,ट,ठ, त, फ, ब, म आदि वर्णों के सार्थक होने की संभावना है। इन वर्णों की सार्थकता इतनी मान्य और प्रमाणित नहीं है किन्तु चौदह वर्णों की सार्थकता विदित और मान्य है। अंग्रेजी के दो स्वर सार्थक बन गये हैं किन्तु उसमें कोई भी व्यंजन सार्थक नहीं है।

वर्णों की यह सार्थकता संस्कृत की अद्भुत विशेषता है। वर्ण-ध्वनियों का ऐसा विविक्त,स्पष्ट और निश्चित रूप अन्य भाषाओं में नहीं है। पदान्त में ह्रस्व स्वरान्त शब्द अन्य भाषाओं में बहुत कम मिलेंगे। भाषा-विज्ञान में ध्वनियों को बहुत कुछ समान मानकर उनके विकार परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है किन्तु भाषाओं के शब्दों में ह्रस्व स्वरान्त ध्वनि की भाँति उनकी विशेष स्थिति को अधिक महत्व नहीं दिया जाता किन्तु इन पर भाषाओं की विशेषता निर्भर करती है। वर्णों के वर्णवत उच्चारण की विशेषता संस्कृत को अन्य भाषाओं से अलग करती है। वर्णों के शब्दवत प्रयोग और उनकी शब्द-तुल्य सार्थकता तो संस्कृत भाषा की अद्वितीय विशेषता है यह एक ऐसी सांस्कृतिक श्रेष्ठता है

जो अविकसित भाषा से विकसित तथा देशान्तर से पल्लवित भाषा में उदित नहीं हो सकती। यह भाषा की अत्यन्त गम्भीर विशेषता है जो भाषा की मौलिक जन्मभूमि में ही जाति की सांस्कृतिक प्रतिभा से उदित हो सकती है। भाषा के शब्दों में व्याप्त होने के कारण यह विशेषता भाषा के मूल स्वरूप में ही समवेत हो सकती है। इसका आरोपण संभव नहीं है। इसी कारण यूरोपीय भाषाओं में अधिग्रहण या आरोपण न हो सका। इन भाषाओं की शाब्दिक और अवर्णात्मक प्रकृति सार्थक वर्णों के वैशिष्ट्य के अनुकूल न थी। ये विशेषता आदिम भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी नहीं रही होगी। यदि होती तो अन्य भाषाओं में उसका प्रभाव मिलता अत: ये विशेषता संस्कृत भाषा की आजन्म और मौलिक विशेषता है।

वर्ण-विधान के इस प्रसंग में संस्कृत व्याकरण की चर्चा भी अनुचित न होगी। जिस प्रकार संस्कृत भाषा वर्णिक है,उसी प्रकार संस्कृत भाषा का व्याकरण भी वर्ण-ध्वनियों पर आश्रित है। माहेश्वर सूत्रों में प्रत्याहार-विधान के वैयाकरण उ्देश्य से चतुर्दशधा विभाजित वर्ण-ध्वनियाँ समस्त संस्कृत व्याकरण का आधार हैं। इन्हीं वर्ण-ध्वनियों के संयोग,सम्बन्ध,विकार आदि की विधियाँ संस्कृत व्याकरण में वर्णित हैं। ये विधियाँ सन्धियों तक ही सीमित नहीं वरन् सुबन्त और तिङन्त रूपों के निर्माण को भी शामिल करती हैं। सन्धि संस्कृत भाषा की एक व्यापक विशेषता है। वर्णों के संयोग से उत्पन्न विकार को सन्धि कहते हैं। वर्णों का संयोग तो भाषा में सर्वत्र होता है किन्तु किसी भी भाषा में वर्ण-संगम से इतना व्यापक विकार नहीं होता जितना कि संस्कृत में होता है। इसका कारण ये है कि संस्कृत भाषा मूलत: तथा स्वरूपत: वर्णिक भाषा है तथा वर्णों की धारणा उनके निश्चित ध्वनि स्वरूप पर आश्रित है। अन्य यूरोपीय भाषाएँ शाब्दिक हैं। वर्ण बीज से उत्पन्न न होने के कारण उनका व्याकरण,संस्कृत के समान वर्ण-संयोगजन्य विकार का व्याकरण नहीं है। उनका व्याकरण भी भाषा के समान शाब्दिक है अर्थात् शब्दों के रूप और विकार के शासन का व्यावहारिक शास्त्र है। संस्कृत व्याकरण की वर्णिकता भी उसकी स्वतंत्रता,मौलिकता और भारतीयता का समर्थन करती है।

अन्त में सांस्कृतिक वर्ण-विज्ञान की सीमाओं का निर्देश करने के निमित्त से भारतीय परम्परा के वर्ण-तंत्र का उल्लेख भी आवश्यक है। तन्त्र एक कूट शास्त्र एवं विधि है। वह गुप्त और रहस्यमय है। वर्ण के प्रसंग में केवल मातृ

का तन्त्र का उल्लेख पर्याप्त होगा। इसके अनुसार संस्कृत वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण अर्थयुक्त है। प्रत्येक वर्ण किसी दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक अर्थ का वाचक है तन्त्र साधना के यन्त्रों में वर्णों का न्यास भी होता है।" ॐ के लोकमान्य प्रतीक में वर्ण-विधान के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रहस्य का सघन समाधान हुआ है। अ,उ और म् के योग से निर्मित ब्रह्म का वाचक ॐ वर्ण-माला के द्वारा लक्षित संसार का आधार बन गया है। वाक्यपदीय के अक्षर शब्द ब्रह्म की धारणा में शब्द का अध्यात्म चरम शिखर पर पहुँच गया है। "[13]

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 126
2. वही,पृष्ठ संख्या 127
3. वही,पृष्ठ संख्या 128
4. वही,पृष्ठ संख्या 129
5. गुणानन्द जुयाल-हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन,पृष्ठ संख्या 108
6. डॉ.हरदेव बाहरी-हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप,पृष्ठ संख्या 104
7. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 136
8. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-प्राचीन लिपि माला,पृष्ठ संख्या 82
9. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 138
10. वही,पृष्ठ संख्या 138
11. वही,पृष्ठ संख्या 139
12. ब्रह्मसूत्र 2/3/18
13. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 141

अध्याय-6

भाषा ,शब्द और संस्कृति

भाषा,भाव,अर्थ और प्रयोजन की अभिव्यक्ति एवं उनके सम्प्रेषण का ध्वनिमय माध्यम है। तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा की मुख्य इकाई है। अर्थ अथवा तात्पर्य वाक्य के रूप में ही व्यक्त होता है। जहाँ प्रत्यक्ष में वाक्य पूरा नहीं होता और व्यवहार में शब्द ही बोला जाता है,वहाँ भी वह शब्द वाक्य का ही अर्थ वहन करता है। बच्चों का एक शब्द(पानी,रोटी आदि)पूरे वाक्य का तात्पर्य प्रकट करता है। मनुष्य की बुद्धि और उसकी विश्लेषणात्मकता के कारण उसका अखण्ड तात्पर्य शब्दों की इकाइयों से निर्मित वाक्य के द्वारा व्यक्त होता है। प्रारम्भ में मनुष्य के जीवन में जब भाषा का आविर्भाव हुआ होगा तब वाक्य-तुल्य समग्र ध्वनि-धारा से ही वह अभिप्रायों को व्यक्त करता होगा किन्तु कालक्रम से बुद्धि की विश्लेषणात्मकता और व्यवहार की अपेक्षाओं के प्रभाव से वाक्यों का शब्दों में विभाजन हुआ तथा वाक्य शब्दों की इकाइयों का व्यावहारिक समूह बन गया। भाषा का अधिक बौद्धिक विकास होने पर शब्दों में वर्ण-ध्वनियों का विवेक हुआ किन्तु यह विवेक संस्कृत भाषा में ही अधिक परिष्कृत सीमा में पहुँच सका। अन्य भाषाओं में वर्ण-ध्वनियों का अस्पष्ट बोध अवश्य विकसित हुआ किन्तु वे संस्कृत के समान वर्ण विवेक की सूक्ष्मता एवं परिपूर्णता तक नहीं पहुँच सकीं।

अस्तु वाक्य से प्रारम्भ होकर भाषा के विकास की परिणति वर्ण में हुई किन्तु भाषा के व्यवहार और विचार में शब्द ही भाषा की धुरी है। शब्द और वाक्य दोनों वर्ण-ध्वनियों से बनते हैं। इस दृष्टि से वर्ण-ध्वनियों का अध्ययन महत्वपूर्ण है। शब्दों के सम्बन्ध और रूप-परिवर्तन भी वर्ण-ध्वनियों के अनुसार होते हैं। भाषा के इस पक्ष का विवेचन भी वर्ण-विज्ञान को महत्वपूर्ण बना देता है। वर्ण-ध्वनियों का विवेचन भाषा के अनेक सूक्ष्म और गम्भीर रहस्यों का उद्‌घाटन करता है अत: वर्ण-विज्ञान का भाषा-विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थ,प्रयोजन और तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य-विन्यास का अध्ययन भी आवश्यक है।

किन्तु भाषा के व्यवहार,विचार और शिक्षण में शब्द ही भाषा का केन्द्र बन जाता है। शब्द-भण्डार ही भाषा की सम्पत्ति है। शब्दों को भाषा की व्यावहारिक

इकाई मानना उचित है। शब्दों के रूप,अर्थ,संस्कार आदि में ही भाषा का विकास और ज्ञान प्रकट होता है। आदिम भाषा की समग्र वाक्य-ध्वनि में शब्द-खण्डों का विश्लेषण करके ही मनुष्य ने भाषा को प्रगति के मार्ग में आगे बढ़ाया है। वर्ण-ध्वनियों का पूर्ण विवेक तो संस्कृत में ही हो सका है अन्य भाषाओं में वर्ण-ध्वनियाँ शब्दों का अंग बनी रहीं। वाक्यों की समग्र ध्वनि-धारा के अखण्ड प्रवाह में शब्दों का निर्धारण एवं विश्लेषण भाषा की रचना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण है। यह धारा के बुदबुदों को गिनने के समान है किन्तु वर्ण-विवेक धारा की तरंगों को गिनने के समान है। वाक्यों से शब्द और शब्दों से वर्णों का विश्लेषण भाषा के विकास की आरम्भिक दिशा है इसके बाद भाषा की दूसरी दिशा आरम्भ हो गई जिसमें वर्ण-ध्वनियों के संयोग से शब्द निर्माण होने लगा। भाषा का अधिक विकास इस दूसरी दिशा में हुआ है।

वर्ण-ध्वनियों से शब्दों का निर्माण भाषा की रचनात्मकता का सबसे प्रमुख रूप है। यदि संस्कृति मनुष्य की रचना है,तो भाषा के क्षेत्र में शब्द-रचना मनुष्य के कर्तृत्व का सर्वोत्तम उदाहरण है तथा शब्द मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि है। वर्ण-ध्वनियों के विश्लेषण में मनुष्य का कर्तृत्व अवश्य प्रकट होता है किन्तु वर्ण-ध्वनियों का आधार प्राकृतिक है। अर्थ और तात्पर्य से सम्बन्ध होने के कारण वाक्य रचना बौद्धिक है। बौद्धिक होने के कारण वाक्यों के रूप संख्या में अधिक नहीं हैं। बुद्धि विश्लेषण के साथ-साथ संक्षेप की ओर भी अभिमुख रहती है। सबसे अधिक कर्तृत्व और रचनात्मकता शब्दों के निर्माण मे ही व्यक्त होती है। इस दृष्टि से शब्द अपने स्वरूप में ही सांस्कृतिक हैं। सामाजिक व्यवहार में स्वीकृत और प्रचलित होने से उनकी रचना में संकल्प का सार्वजनिक साम्य प्रतिष्ठित होता है जो शब्दों की सांस्कृतिकता को सम्पन्न करता है। जीवन,इतिहास,रचना, संस्कार आदि के सन्दर्भ शब्दों को और अधिक सांस्कृतिक बना देते हैं। स्वरूप में सांस्कृतिक बनकर शब्द संस्कृति के भावों के वाहक बन जाते हैं। शब्दों के अस्तित्व,अभाव, संस्कार,सन्दर्भ आदि में किसी समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं के सूत्र समवेत रहते हैं। पुरातन मुद्राओं तथा अन्य अवशेषों की भाँति शब्द संस्कृति के जीवन्त प्रतीक बन जाते हैं। अत: शब्दों का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन भाषा-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। शब्दों के सांस्कृतिक रूपों,पक्षों,संस्कारों और सन्दर्भों का अनुसंधान करने से भाषा-विज्ञान,

संस्कृति और इतिहास के अनेक जटिल, गम्भीर और महत्वपूर्ण प्रश्नों की धुँधली वीथियों में नवीन आलोक का पथ-प्रदर्शन मिल सकेगा।

(क) शब्द की रचना-विधियाँ

आरम्भ में शब्दों की रचना वाक्य-ध्वनियों के समग्र प्रवाह के बौद्धिक एवं व्यावहारिक विखण्डन से हुई है। शब्दों के आरम्भिक निर्माण की यह विधि पूर्णत: आकस्मिक,संयोगजन्य और अनियमित रही होगी। निर्मित होने के बाद ये शब्द व्यवहार की परम्परा में रूढ़ हो गये होंगे। वाक्यों के विखण्डन से निर्मित शब्दों के अतिरिक्त बाद में नये शब्द भी आकस्मिक और संयोग जन्य शब्द बने होंगे। भाषा के प्रयोग में शब्द व्यवहार आरम्भ होने के बाद भाषा की रचना प्रक्रिया शब्द-केन्द्रित बन गई होगी तथा नये शब्द स्वतंत्र शब्दों के रूप में ही बने होंगे। शब्द-रचना की इस विधि को रूढ़िमूलक प्रणाली कह सकते हैं। इस विधि की प्रक्रिया में कोई बौद्धिक अथवा अन्य कारण नहीं है। यह प्रणाली सामाजिक व्यवहार की बहुसम्मत मान्यता और उसके प्रचार की रूढ़ि पर ही निर्भर है। यह कल्पना की जा सकती है कि समाज के कुछ प्रमुख जन इस रूढ़िमूलक शब्द-रचना विधि के अग्रणी तथा नेता रहे हों जैसे कि लोक-गीत,लोक-काव्य आदि के क्षेत्र में आज भी ग्रामीण समाज के कुछ विशेष प्रतिभाशाली नेतृत्व करते हैं किन्तु भाषा के नेताओं द्वारा निर्मित शब्द शीघ्र ही व्यवहार में प्रचलित और स्वीकृत होकर रूढ़ बन गये होंगे। पशुओं तथा पदार्थों की ध्वनियों के अनुकरण,भावाभिव्यक्ति,श्रम-परिहार आदि का इस शब्द निर्माण में अल्प योग रहा होगा। अधिकांश सार्थक शब्द मनुष्य के संकल्प और प्रयत्न के द्वारा बने होंगे।

जब तक वाक्यों अथवा शब्दों में वर्ण-ध्वनियों का स्पष्ट विवेक न हो सका होगा तब तक शब्द आकस्मिक और समग्र शब्द ध्वनि के रूप में ही बने होंगे किन्तु वर्ण-ध्वनियों का आभास होने पर इन ध्वनियों के संयोजन की प्रणाली शब्द-रचना की दूसरी तथा अधिक प्रशस्त विधि बन गई होगी। शब्द-रचना की इस दूसरी विधि को संयोग विधि कह सकते हैं। वर्ण-ध्वनियों से भी अधिक उपयोग शब्द-खण्डों का हुआ होगा जैसा कि सभी भाषाओं के शब्दों में मिलने वाले समान शब्द-खण्डों से प्रमाणित होता है। उपसर्ग,प्रत्यय आदि इन्हीं शब्द-खण्डों के विकसित रूप हैं। ये अत्यन्त विकसित और व्यापक हैं किन्तु इनसे पहले अनेक कम व्यापक शब्द-खण्डों के संयोजन से शब्द बनते रहे होंगे।

उपसर्ग,प्रत्यय आदि के अधिक विकसित,अधिक व्यापक और अधिक बौद्धिक शब्द-खण्ड अथवा संयोजक भाषा के निर्माण और विकास को तीव्र गति एवं विस्तृत क्षेत्र प्रदान करते हैं। साहित्य,दर्शन,शास्त्र आदि के वैचारिक युग में इन्हीं के योग से भाषा का अपार विस्तार हुआ है। भाषा-निर्माण की इस प्रक्रिया को संश्लेषणात्मक अथवा योगात्मक विधि कह सकते हैं। संश्लेषणात्मक विधि व्याकरण के अन्तर्गत मानी जाती है आगे चलकर यह विधि व्याकरण के साथ एक रूप हो गई किन्तु इससे पहले उपसर्ग,प्रत्यय आदि से भिन्न सामान्य शब्द-खण्डों के संश्लेषण से ही शब्द बनते रहे होंगे। यह रूढ़ शब्द के व्याकरणात्मक रूपान्तर के अर्थ में संश्लेषण नहीं है किन्तु रूढ़ शब्द के प्रकृति रूप की निर्मिति की दृष्टि से यह रचना-प्रक्रिया भी संश्लेषणात्मक ही है।

अन्य भाषाओं एवं समाजों के सम्पर्क और प्रभाव से आदान के द्वारा भी भाषाओं का शब्दकोश बढ़ा है। इस प्रणाली से शब्दों का अनुग्रहण अल्प मात्रा में ही हुआ होगा। इस प्रणाली से प्राप्त शब्दों के साम्य के आधार पर भाषा, संस्कृति और इतिहास के प्रश्नों का समाधान अत्यन्त अनुचित और आशंकापूर्ण है। अनुग्रहीत शब्द भाषा के मौलिक शब्द-कोश की मुद्राएँ नहीं हैं वे अन्तर प्रदेशीय व्यवहार के स्वीकृत विदेशी मुद्राओं के समान हैं। इन शब्दों का अनुग्रहण स्थानीय भाषाओं के अंकुरित एवं पल्लवित होने के बाद ही सम्भव हो सका होगा। शब्द-संचय की इस विधि को अनुग्रहण विधि कह सकते हैं। अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं में ग्रीक और लेटिन के मूल धातु तथा प्रकृत शब्दों के अनुग्रहण से अपनी संश्लेषणात्मक प्रणाली के द्वारा अनेक शब्दों का निर्माण हुआ है। इसको भी संश्लेषणात्मक विधि का ही एक रूप मानना होगा।

एकाधिक शब्दों के योग से भी भाषाओं में शब्द बनते हैं। ये वास्तव में संयुक्त शब्द होते हैं। यद्यपि इनका वाक्य विषय एक होता है संस्कृत में संयुक्त शब्दों के निर्माण की यह विधि समाज-प्रणाली कहलाती है। लेखन में भी शब्द के संयोज्य अंग संश्लिष्ट हो जाते हैं। अंग्रेजी में लेखन में संयोज्य शब्द अलग रहते हैं। यह भाषाओं की प्रकृति और समाज की संस्कृति के अन्तर का प्रभाव है। यह समास-विधि शब्द-रचना की मौलिक संश्लेषण विधि का ही प्रौढ़ रूप है।

इनके अतिरिक्त शब्द-रचना की और भी विधियाँ हो सकती हैं जिनका भाषाओं के शब्दकोश के संवर्धन में योग रहा होगा। उन सभी विधियों का विवेचन

सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

(ख) शब्दों के भेद

भाषा मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का सूक्ष्म माध्यम है। मनुष्य का जीवन जटिल,विविधरूप और प्रगतिशील है अत: चाहे आदिम काल के सरल जीवन में शब्दों के वस्तु और क्रियापरक कुछ सीमित रूप ही बने हों किन्तु आगे चलकर जीवन के विकास के साथ-साथ अनेक प्रकार के शब्दों का निर्माण हुआ होगा। जीवन के जिन धरातलों से शब्दों का सम्बन्ध है उनके अनुसार शब्दों के कुछ भेद किये जा सकते हैं। ये भेद शब्दों की रचना उनके व्याकरण आदि भाषा शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार नहीं होंगे वरन् शब्दों के आन्तरिक व्यक्तित्व,सांस्कृतिक धरातल आदि के अनुसार होंगे।

शब्दों का सबसे आदिम,आरम्भिक और मूल रूप जीवन के बाह्य व्यवहार और ऊपरी धरातल से संबंध रखता है यह शब्दों का स्थूल रूप है। यह भाषा के वृक्ष का स्तम्भ है। इसी पर भाषा का कल्पवृक्ष खड़ा है। वस्तु,क्रिया,सम्बन्ध आदि इसकी शाखाएँ हैं। आवश्यक वस्तुओं और क्रियाओं के नामकरण से भाषा का आरम्भ हुआ होगा। जीवन के विकास के साथ अधिक श्रेष्ठ वस्तुओं,जटिल और गम्भीर क्रियाओं के वाचक शब्द बने होंगे। फिर भी जीवन और चेतना के धरातल की दृष्टि से वस्तुओं और क्रियाओं के वाचक शब्द स्थूल ही कहे जायेंगे। ये शब्द व्यावहारिक हैं। लोक-व्यवहार में ही इनका उद्भव और उपयोग होता है। बालक,वन्य,अशिक्षित व ग्रामीण लोग भी इनमें अधिकांश शब्दों को समझ सकते हैं।

बाह्य और व्यावहारिक धरातल से ऊपर जीवन का सूक्ष्म और वैचारिक धरातल है। इस धरातल पर चेतना सूक्ष्म,तीव्र और परिष्कृत हो जाती है। चेतना के परिष्कार का यह धरातल शिक्षा और चिन्तन से प्राप्त होता है अत: यह सर्व-सुलभ नहीं है। जिन भाषा क्षेत्रों में समाज में शिक्षा और चिन्तन का जितना उत्कर्ष हुआ उतने ही अधिक वैचारिक शब्द उस भाषा में बन सके। अपने समय के चिन्तन क्षेत्रों के अनुरूप भारतवर्ष,ग्रीस आदि देशों में वैचारिक शब्दों का सृजन हुआ। अन्य अविकसित देशों में वैचारिक शब्दों का सृजन कम हुआ होगा। विचार बुद्धि का धर्म है। बुद्धि विश्लेषणमुखी है। विश्लेषण से धारणाओं में दोष भेद उत्पन्न होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दों की अपेक्षा होती है

अत: वैचारिक शब्दावली सूक्ष्म होने के साथ निरन्तर वर्धनशील होती है। ज्ञान-विज्ञानों और शास्त्रों के विकास के साथ उसकी अधिक वृद्धि होती है जैसा कि आधुनिक युग में यूरोपीय भाषाओं में हुआ है।

व्यावहारिक शब्द उपयोगी होते हैं। उनका साधारण जीवन की सहज आकांक्षाओं से अधिक सम्बन्ध होता है। वैचारिक शब्दावली उपयुक्त होती है अर्थात् विचार या प्रत्यय के विविक्त पक्ष को स्पष्ट व्यक्त करने की यथार्थ क्षमता उसमें होती है। व्यावहारिक शब्दावली में रूढ़िगत शब्द अधिक होते हैं। उनका एक-दूसरे से संबंध आवश्यक नहीं होता। वैचारिक शब्दावली के शब्द एक सम्बद्ध धारणा-क्षेत्र के व्यवस्थित अंगों के समान होते हैं। कुछ मूल शब्दों को छोड़कर अधिकांश वैचारिक शब्द संयोजनात्मक प्रणाली द्वारा बनाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त भाषाओं में अनेक सांस्कृतिक शब्द भी होते हैं। संस्कृति जीवन का रचनात्मक रूप है। रूप और भाव के अतिशयों से युक्त जीवन की समृद्धि का नाम ही **संस्कृति** है। इस अतिशय में उपयोगिता और व्यवस्था आवश्यक नहीं होती वरन् ये कह सकते हैं कि ये अतिशय के कुछ विपरीत हैं। अतिशय प्रत्यक्ष और व्यावहारिक दृष्टि से निरुपयोगी होते हैं। व्यवहार जीवन और भाषा का शरीर है। विचार उनका मस्तिष्क है। संस्कृति उनका अलंकार है,जो उपयोगिता से ऊपर इन्हें सुन्दर बनाता है। जीवन में सांस्कृतिक रूपों और भावों के उत्कर्ष के साथ-साथ भाषा में सांस्कृतिक शब्दों का सृजन होता है। इन शब्दों में रूपों और भावों के अतिशय रचना संस्कार और अर्थ के रूप में समाहित रहते हैं।

व्यावहारिक और वैचारिक शब्दों का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन के सामान्य पक्षों से होता है अत: वे संचारशील और अनुग्राह्य होते हैं। गणितीय विचार सर्वाधिक सामान्य हैं। भारत में आविष्कृत अंक और शून्य पश्चिमी क्षेत्र में दूर तक फैल गये। इसके विपरीत संस्कृति की गहरी जड़ें जन्मभूमि में होती हैं। वह उन विशाल वृक्षों के समान है जिनका स्थानान्तरण कठिन है। स्थानान्तरण करने पर वे मुरझा जाते हैं। उनका प्राण और सौन्दर्य तत्व क्षीण हो जाता है। उनके भाव का **ह्रास** होता है। संस्कृति रचना का विशिष्ट रूप है। विशिष्टताओं के सूक्ष्म सूत्र जीवन में समवेत रहते हैं अत: सांस्कृतिक शब्दों का अनुग्रहण अत्यन्त कठिन है। इन शब्दों का संचार होता है तो भाव-**ह्रास** द्वारा उस

संचार की दिशा का अनुमान लगाया जा सकता है। जिस देश में एक सांस्कृतिक शब्द रूप और भाव की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध है वही देश उस शब्द की जन्मभूमि है।" भू,पद आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। "(1)

शब्दों के ये भेद प्रचलित भाषा-विज्ञान में अधिक मान्य नहीं हैं किन्तु भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति के योगदान की दृष्टि से ये भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनके अनुसार विशेषत: सांस्कृतिक शब्दों के आधार पर,उनकी भाव समृद्धि के दिग्दर्शन से विभिन्न भाषाओं में मिलने वाले समान शब्दों की मूल जन्मभूमि का निर्णय किया जा सकता है। व्यावहारिक और वैचारिक शब्दों में भी जीवन के संस्कार के प्रभाव से सांस्कृतिक भाव-पक्ष उसी प्रकार खिल आता है जिस प्रकार उपयोग की वस्तुओं में भी कलात्मक सौन्दर्य का सन्निधान होता है।

(ग) शब्दों का व्याकरण

संज्ञा,क्रिया,विशेषण आदि सभी प्रकार के शब्द व्यावहारिक,वैचारिक अथवा सांस्कृतिक हो सकते हैं। व्याकरण शब्दों की वाक्यगत स्थिति के अनुसार उनके रूप,उनकी विशेषता और उनकी उपयुक्तता का नियामक है। वाक्य में शब्दों के परस्पर सम्बन्ध का निर्धारण भी व्याकरण का अर्थरूपों का विशेषत: निरूपण है इसीलिए दर्शन में जगत् के विशेष रूपों की रचना को व्याकरण कहते हैं। संज्ञा,क्रिया,विशेषण आदि शब्दों के वे विशेष रूप हैं जिनके निरूपण और निर्धारण के शास्त्र को **व्याकरण** कहते हैं। ये रूप शब्दों के जीवन-सन्दर्भ के द्योतक हैं। जिस स्थिति रूप और धर्म के अनुसार शब्द की जीवन में सत्ता होती है तथा उसका वाक्य में व्यवहार होता है,शब्द की वह विशेषता उसका विशेष लक्षण बन जाती है।" शब्दों का यह लक्षण उसी प्रकार होता है जैसा कि मनुष्य समाज में माता, पिता,भाई,पुत्र आदि के सम्बन्ध होते हैं अथवा कर्मानुसार लेखक, घातक आदि के वर्ग विभाजन होते हैं। "(2) दोनों ही व्यवस्थाओं में शब्द अथवा मनुष्य के व्यक्तित्व का निरूपण जीवन्त व्यवहार में उसके सम्बन्ध,धर्म आदि के अनुसार होते हैं।

संज्ञा,क्रिया,विशेषण,सर्वनाम,क्रिया-विशेषण,अव्यय आदि शब्दों के व्याकरण-सम्मत भेदों में प्रसिद्ध एवं मुख्य हैं। **संज्ञा** व्यक्ति,वस्तु अथवा स्थान के नाम को कहते हैं। संज्ञा उनकी सत्ता और उनके स्वरूप की बोधक है। **क्रिया** इनका कालगत एवं प्रगतिशील धर्म है। चेष्टा,विकार,परिवर्तन आदि क्रिया के

लक्षण हैं। **सर्वनाम** ऐसे संकेत वाचक शब्द हैं जो संज्ञा के स्थान पर काम आते हैं। संज्ञाएँ अनन्त हैं किन्तु सर्वनाम संख्या में अत्यन्त सीमित हैं। थोड़े से सर्वमान ही अनन्त संज्ञाओं की आवृत्ति को बचाते हैं। इस दृष्टि से सर्वनाम भाषा में बौद्धिक संक्षेप और कलात्मक वैभव दोनों के विधायक हैं। **विशेषण** संज्ञा के गुण तथा उसकी विशेषता बताते है। संज्ञाओं में स्वरूप और धर्म का अन्तर होता है। विशेषण गुण-सन्निकर्ष के द्वारा एक संज्ञा के उदाहरणों में भेद-विधान करते हैं। **क्रिया-विशेषण** क्रियाओं में उसी प्रकार का भेद स्थापित करते हैं,जिस प्रकार का भेद विशेषण संज्ञाओं में करते हैं। वे क्रियाओं के धर्मों की विशेषता बताते हैं। **अव्यय** भाषा के अविकारी शब्द हैं,जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। उनके रूप,संज्ञा,क्रिया आदि की भाँति नहीं बदलते वे एक ही रूप में रहकर वाक्य में कुछ स्थायी भावों,सम्बन्धों आदि का निर्धारण करते हैं। इनके अतिरिक्त शब्दों के कुछ और भी व्याकरणगत भेद हैं,जो वाक्य में शब्दों के सम्बन्ध और उनकी स्थिति का निरूपण करते हैं।

सभी भाषाओं में संज्ञा,क्रिया,विशेषण,सर्वमान आदि विभिन्न व्याकरण-भेदों के अनुसार विभाज्य शब्द होते हैं। सभी समाजों के जीवन में व्यक्ति,वस्तु, स्थान आदि के नाम तथा कर्म आदि के व्यवहार का महत्व होता है। भाषा के वाक्यों में भी इनका सम्बन्धानुरूप प्रयोग होता है किन्तु सामान्य मानवीय व्यवहार और उपयोग के अतिरिक्त इन शब्द-रूपों के अनुसार भाषाओं का विशेष रूप भी निर्धारित होता है। रूप की यह विशेषता भाषा के सांस्कृतिक लक्षण का निरूपण करती है। संज्ञाओं से भाषा एवं जीवन की सम्पत्ति का अनुमान होता है। क्रियाओं से भाषा और जीवन की सक्रियता ,सचेष्टता और सामर्थ्य का परिचय मिलता है। किसी भाषा में वस्तु,भाव आदि की वाचक जो संज्ञाएँ हैं अथवा नहीं हैं तथा जो क्रियाएँ हैं अथवा नहीं हैं उनसे उस समाज की जीवन-दृष्टि का अनुमान होता है। भाववाचक संज्ञाओं से ज्ञान की सूक्ष्मता विदित होती है। विशेषणों और क्रिया-विशेषणों से संज्ञाओं और क्रियाओं के सूक्ष्म एवं विविक्त पक्षों का विश्लेषण होता है। ये भी विचार की सूक्ष्मता के परिचायक हैं।

संज्ञाएँ भाषा और जीवन की सम्पन्नता की द्योतक हैं किन्तु क्रियाएँ भाषा और जीवन की सामर्थ्य की सूचक हैं। विशेषणों और क्रिया-विशेषणों से भाषा और जीवन की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक वृत्ति का परिचय मिलता है। भाषा के इन

व्याकरणगत रूपों के अनुसार भाषा और समाज की जीवन वृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। भाषा जीवन की आत्मा की अभिव्यक्ति है वह जीवन का दर्पण है। शब्दों के रूप,इतिहास और संस्कार में जीवन के अणुचित्र समाहित रहते हैं। संस्कृत भाषा में क्रियाओं की विपुलता,प्राचीन आर्य जाति की सक्रियता की द्योतक है। हिन्दी में क्रियाओं की अल्पता तथा अनेक संस्कृत क्रियाओं के क्रिया रूप का लोप हो जाना अर्वाचीन उत्तर भारतीयों की निष्क्रियता का संकेत करता है। अग्रेंजी की अपार क्रिया-सम्पत्ति तथा प्रत्येक संज्ञापद की क्रियापद के रूप में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य अंग्रेज जाति की उस अपार क्रिया शक्ति की सूचक है,जिसके द्वारा उसने विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की। जहाँ हिन्दी-प्रदेश में क्रिया लुप्त होकर जाति का जीवन निष्क्रिय सत्तामात्र की संज्ञा हो गया,वहाँ अंग्रेजों के जीवन में सत्ता(संज्ञा)मात्र क्रियास्पंद बन गई।

इस प्रकार शब्दों के उक्त व्याकरणगत रूपों का भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति के योगदान के अध्ययन में बड़ा महत्व है। प्रकृति,प्रत्यय,उपसर्ग, विभक्ति आदि के अनुसार विभाजित शब्द-रूपों का संस्कृतिपरक महत्व उतना नहीं है। भाषा के रूप-विधान के अध्ययन में उनका अवश्य उपयोग है।

(घ) शब्दों का कलात्मक सौन्दर्य

शब्दों की रचना मनुष्य का सांस्कृतिक कर्म है। इस रचना में मनुष्य का कर्तृत्व फलित होता है। संस्कृति का कलात्मक रूप में तत्व का संगम है। संस्कृति का कलात्मक रूप एक अतिशयपूर्ण अलंकार के रूप में शब्दों अथवा अन्य उपादानों में सन्निहित होता है। यह रूप का अतिशय ही कला का सौन्दर्य है। ध्वनि,शब्दों का स्थूल तत्व या उपादान है। उनका सूक्ष्म उपादान तत्व वह अर्थ या प्रतीकात्मक प्रयोजन है जिसके निमित्त शब्द के प्रतीक की रचना होती है। इन उपादान तत्वों को मुखर अथवा लिखित रूप में साकार बनाने को शब्दों की रूपरचना कह सकते हैं। यही शब्दों का कलात्मक पक्ष है। रचनात्मक होने के कारण इसी में वाचक मनुष्य का सांस्कृतिक कर्तृत्व फलित होता है। सांस्कृतिक कर्तृत्व और कलात्मक रूप का सन्निधान सभी शब्दों में होता है। इस दृष्टि से सभी शब्द सांस्कृतिक एवं कलात्मक हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सामान्य कर्तृत्व और सामान्य रूप-विधान की दृष्टि से भी सभी वस्तुओं की रचना,संस्कृति और कला के अन्तर्गत है किन्तु जिन वस्तुओं की रचना में प्राकृतिक प्रयोजन और उपयोग की प्रेरणा अधिक होती है उन वस्तुओं की सांस्कृतिकता और कलात्मकता का प्रभाव मन्द

हो जाता है जिन वस्तुओं में उपयोगिता की अल्पता के कारण अधिक कर्तृत्व और रूप का अतिशय होता है उनको ही संस्कृति और कला की विशेष निधि माना जाता है। इसी प्रकार यद्यपि रचना और रूप की दृष्टि से सभी शब्द सांस्कृतिक और कलात्मक हैं फिर भी जिन शब्दों में रूप का वैभव अधिक है उनको ही विशेष अर्थ में कलात्मक कहना उचित होगा।

शब्दों का मूल रूप ध्वन्यात्मक होने से शब्दों के कलात्मक सौन्दर्य का विचार ध्वन्यात्मक रूप के अनुसार ही करना होगा। ध्वन्यात्मक सौन्दर्य की विशिष्ट कला संगीत कहलाती है। शुद्ध संगीत में व्यंजन ध्वनियाँ नहीं होतीं केवल स्वर-ध्वनियों का उतार-चढ़ाव संगीत के राग की रचना करता है। वाद्य संगीत में इस शुद्ध संगीत का उदाहरण मिलता है। मुखर संगीत में भाषा के व्यंजन युक्त पदों के योग से सघन ध्वनि-तत्व और जीवन्त भाव का सन्निधान होता है। यूरोपीय भाषाओं के वाक्योच्चारण में शब्दों की सीमित ध्वनि के अतिरिक्त स्वरनिपात से एक अतिशयपूर्ण लय उत्पन्न होती है जो वाक्य के उच्चारण को कलात्मक बनाती है। शब्दों में भी इस लय का अंश रहता है। वे अंश वाक्य की लय के प्रवाह में तरंगों के समान समवेत हो जाते हैं। संस्कृत भाषा के वाक्यों अथवा शब्दों के स्वरूप में यह कलात्मक ध्वनि का अतिशय समवेत नहीं है। वैदिक मत्रों के उच्चारण में यह ध्वनि का अतिशय और संगीतात्मक लय ऊपर से पाठ में आरोपित होते हैं। लौकिक संस्कृत में यह लय मन्द हो गई है और हिन्दी में यह संगीतात्मक लय-सौन्दर्य लुप्त हो गया। हिन्दी भाषा का ध्वनि रूप ग्रीष्म की सूखी नदी के शिथिल और दीन प्रवाह के समान है। अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में बंगला ही एक ऐसी भाषा है जिसमें कुछ स्वभावत: और कुछ अकार की वर्तुल ध्वनि के कारण यह सौन्दर्य कुछ शेष रह गया है। इस प्रकार लिपि का कलात्मक सौन्दर्य भी उसमें अधिक है।

शब्दों के सन्दर्भ में कलात्मक सौन्दर्य का प्रश्न शब्दों के विधायक वर्णों की ध्वनि संगति तथा ध्वनिगत विशेषता से संबंध रखता है। वस्तुओं का रूप सौन्दर्य नियमित रूप से उनके वाचक शब्दों को सुन्दर नहीं बनाता,यद्यपि इसकी संभावना बहुत रहती है।" उषा,अरुण,प्रभात,सन्ध्या,किरण, कमल, चन्द्र, पुष्प, कमल, सरिता आदि वस्तुएँ सुन्दर हैं और इनके वाचक शब्द भी सुन्दर हैं। "[3] महाप्राण ध्वनियाँ सौन्दर्य के अनुकूल नहीं हैं। सुन्दर वस्तुओं

के वाचक शब्दों में ये बहुत कम रहती हैं। यूरोप की महाद्वीपीय भाषाओं में ट वर्ग के बहिष्कार का कारण शीत जलवायु में मूर्धन्य वर्णों के उच्चारण की कठिनाई के साथ-साथ कलात्मक सुरुचि भी है।

सभी भाषाओं में सुन्दर ध्वनियों के शब्द विपुलता से मिलते हैं। जर्मन या पंजाबी के समान कुछ पौरुषपूर्ण भाषाओं का सौन्दर्य परुष-ध्वनियों के अनुरूप भी होता है। फ्रेंच और बंगला के समान कोमल जाति की भाषाओं में कोमल ध्वनियों का सौन्दर्य अधिक होगा। ब्रज भाषा के देशज और तद्भव शब्दों में भी शब्दों का सौन्दर्य कोमल हो गया है। संस्कृत भाषा के शब्दों में यह सौन्दर्य सन्तुलित रूप में मिलता है। इतनी प्राचीन भाषा के इतने प्राचीन शब्द बड़ी संख्या में सुन्दर हैं। संस्कृत शब्दों का सौन्दर्य परुष नहीं किन्तु परिष्कृत है और विशेषत: कोमलता पर निर्भर नहीं है।" कलश,पवन,समीर,जल,पुष्प, सरिता,कमल,आकाश,सूर्य,चन्द्र आदि सामान्य वस्तुओं के नामों में भी रूप के अतिशय का सौन्दर्य छलकता है। पृथ्वी,धरा,अग्नि,धैर्य,क्षमा आदि शब्दों में वह गरिमा है जो वस्तु,भाव और रूप को अभीष्ट महिमा देती है। "(4) हिन्दी के देशज शब्दों में गरिमा,महिमा और सौन्दर्य की मात्रा कम है। संस्कृत की क्रियाएँ लकारों के योग से समर्थ एवं गौरवपूर्ण बन जाती हैं। हिन्दी की क्रियाओं में सामर्थ्य की गरिमा नहीं है। अंग्रेजी के विशेषण तथा क्रियापद और भाववाचक संज्ञाएँ सुन्दर हैं।

कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भाषाओं के शब्दों का अध्ययन मनोरंजक होने के साथ-साथ उनके उस रूपात्मक सौन्दर्य का उद्घाटन भी करता है जो भाषा की रचना का एक महत्वपूर्ण रहस्य है।

(ङ) शब्दों का सांस्कृतिक वैभव

भाषा-विज्ञान में शब्दों को सामान्य ध्वनि समूह मानकर उनके ध्वनि-विकारों, ध्वनि-परिवर्तनों आदि का अध्ययन किया जाता है। ध्वनि-समूहों के रूप में संगठित होने वाले शब्दों की ध्वनि-योजना के कलात्मक रूप सौन्दर्य का विशेष ध्यान नहीं दिया जाता और न उनके सांस्कृतिक वैभव को उचित महत्व दिया जाता है। शब्दों का कलात्मक रूप-सौन्दर्य उनकी विधायक वर्ण-ध्वनियों की योजना और उनके उच्चारण में समाहित ध्वन्यात्मक रूपातिशय में व्यक्त होता है। लिपिरूप में लेखन में भी शब्दों का सौन्दर्य साकार होता है किन्तु वह भाषा

का मूल स्वरूप नहीं है। मूल स्वरूप में भाषा सम्प्रेषण का ध्वन्यात्मक माध्यम है। प्राकृतिक दृष्टि से सभी भाषाओं में लगभग समान ध्वनियों का उपयोग होता है। विभिन्न भाषाओं में उन ध्वनियों,विशेषत: स्वर-ध्वनियों के कुछ भेदोपभेद अवश्य मिलते हैं। प्राकृतिक होने के कारण ये ध्वनियाँ सामान्य हैं किन्तु विभिन्न भाषाओं के शब्दों तथा वाक्यों में अर्थ के प्रतीकों के रूप में जो ध्वनि-योजनाएँ बनती हैं उनके रूप और उच्चारण में कुछ अतिशय उत्पन्न होता है। यह ध्वन्यात्मक रूप का अतिशय ही शब्दों का कलात्मक सौन्दर्य है। इस कलात्मक सौन्दर्य में प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषता प्रकट होती है।

कलात्मक सौन्दर्य शब्दों के ध्वन्यात्मक रूप का गुण है। अनेक शब्दों के अन्तर में सांस्कृतिक वैभव निहित रहता है। संस्कृति रूप और भाव के अतिशय की संयुक्त संज्ञा है। व्यावहारिक शब्दों की ध्वनि-योजना में रूप-सौन्दर्य भी हो सकता है किन्तु इनमें भाव के अतिशय की सम्भावना कम रहती है। व्यवहार उपयोगिता से अधिक शासित रहता है। उपयोगिता अतिशय की ओर अभिमुख नहीं रहती है अत: व्यावहारिक उपयोग के शब्दों में भाव का सांस्कृतिक अतिशय उदित होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। यदि जीवन के विकास क्रम में उपयोगी व्यवहार के उपकरणों में सांस्कृतिक भावों के सन्दर्भों का उदय हो जाये तो यह एक समाज की सांस्कृतिक साधना का चमत्कार है। कुछ मात्रा में तो यह चमत्कार सभी समाजों में हुआ है। सभी समाजों के अनेक व्यावहारिक और उपयोगी शब्दों में सांस्कृतिक भावों के अतिशयपूर्ण सन्दर्भ विकसित हुए हैं। प्राचीन भारतीय समाज में यह चमत्कार कुछ अधिक समृद्ध रूप में सम्पन्न हुआ। वैदिक धर्म और संस्कृति के प्राचीन परिवेश में ही व्यावहारिक जीवन के अनेक उपयोगी उपकरण और उनके वाचक शब्द सांस्कृतिक भावों के अतिशय से सम्पन्न हो गये। अधिकांश उपकरण देवताओं के द्योतक बन गये और उपयोगी शब्द देवता वाचक बन गये। " पृथ्वी,सूर्य,चन्द्र,अग्नि,जल,दूर्वा,चन्दन, पत्र, पुष्प आदि अनेक व्यवहार के उपकरण और कर्म वैदिक धर्म-संस्कृति में केवल व्यावहारिक नहीं रह गये हैं,भावों के अतिशय से युक्त होकर वे सांस्कृतिक बन गये हैं। "[5] वैदिक आर्यों के इस चमत्कार की सीमा यह है कि अनेक उपकरण और विशेष सांस्कृतिक सन्दर्भ ही नहीं दैनिक जीवन के सामान्य व्यवहार में भी सांस्कृतिक अतिशय से युक्त रहते हैं। ये कहना अनुचित न होगा कि वैदिक जीवन की धारणा में दैनिक व्यावहारिक जीवन का ही सांस्कृतिक कायाकल्प हो

गया है। दैनिक स्नान, ह्भोजन, जलपान आदि भी सांस्कृतिक कृत्य बन गये हैं।

आचारों,वस्तुओं और भावों के सांस्कृतिक सन्दर्भ समाज के सामूहिक और प्रबल आत्मिक संकल्प द्वारा रचे जाते हैं। साम्य और संकल्प के द्वारा वे जीवन की गहराइयों में से वृक्षों की भाँति उदित होते हैं अत: वे मौलिक और विशेष होते हैं। उनका स्थानान्तरण व ग्रहण अत्यन्त कठिन है। वृक्ष जितने विशाल होते हैं उतना ही उनका स्थानान्तरण अधिक कठिन होता है। उसी प्रकार जिन भावों और शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ जितने जटिल,गहन और विस्तृत होते हैं उतना ही उनका अनुग्रहण कठिन है। यदि अनुग्रहण होता है तो उसमें भाव का **ह्रास** होता है। भारतीय और पारसी आर्यों के सूत्र धारण के भेद से यह सिद्धान्त स्पष्ट हो सकता है। दोनों सूत्रधारण करते हैं किन्तु वैदिक भारतीयों के **यज्ञोपवीत** के निर्माण और धारण के भावों में जितनी जटिलताएँ हैं,उतनी पारसियों की **कुश्ती** में नहीं हैं।

शब्दों का सांस्कृतिक वैभव अनेक प्रकार का होता है। सांस्कृतिक भावों के सन्दर्भ का वैभव उसका एक प्रकार है। शब्दों की रचना,व्युत्पत्ति,उनके रूप,उनके संस्कार,उनके इतिहास आदि में उनके सांस्कृतिक वैभव के अन्य प्रकार प्रकट होते हैं। शब्दों की रचना और व्युत्पत्ति का सांस्कृतिक वैभव संस्कृत में अधिक मिलेगा। संस्कृत के अनेक शब्द सार्थक वर्णों तथा सार्थक शब्द खण्डों से बने हैं। अनेक शब्द सार्थक मूलों से निर्मित हैं। अन्य भारोपीय भाषाओं में जो समान शब्द रूढ़िवाचक हैं वे भी संस्कृत में सार्थक सन्दर्भों से युक्त हैं। " जैसे मातृ। संस्कृत का **मातृ** शब्द ग्रीक,लैटिन,जर्मन,अरबी, अंग्रेजी आदि के समान शब्दों के समान संदर्भहीन नहीं है। **मा** धातु मातृ पूजा आदि से उनके व्युत्पत्ति और भाव के सूत्र सम्बद्ध हैं। **पद** शब्द की सार्थक वर्णों से व्युत्पत्ति उसे भारोपीय भाषाओं के समान पद से अधिक वैभवपूर्ण और मौलिक बनाती है। **भू** निर्मित भाव,अनुभव,वैभव आदि में रूप-वैपुल्य के सांस्कृतिक वैभव के उदाहरण मिलते हैं। मृगया,आहार,कुशल,गवेषणा आदि शब्दों में जीवन और इतिहास के संस्कार समाहित हैं। "(6)

सभी प्रकार के रूप और भाव के अतिशय शब्दों के वैभव को बढ़ाते हैं। जीवन और व्यवहार के विकास के साथ में शब्दों में सांस्कृतिक भावों के अतिशय समवेत या आरोपित होते हैं। वैभव शब्दों को विशेषता और मौलिकता देता है जिससे उनका अनुग्रहण कठिन हो जाता है। शब्दों के सांस्कृतिक वैभव

का अध्ययन अपने आप में भी महत्वपूर्ण है। इसमें भाषा-विज्ञान का मूल्यात्मक दृष्टिकोण प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त यह अध्ययन भाषा-विज्ञान के अनेक प्रश्नों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाल सकता है।

(च) शब्द-संचार

विभिन्न भाषाओं में कुछ समान शब्द पाये जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि एक मूल भाषा के शब्द विभिन्न भाषाओं या उपभाषाओं में फैल जाते हैं। एक भाषा के शब्द भी दूसरी भाषा में अनुग्रहीत होते हैं। संस्कृत और अंग्रेजी के अनेक शब्द अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में घुल-मिल गये हैं। मनुष्यों के संचार की भाँति भाषा के शब्दों का भी संचरण होता है। यह संचरण शब्दों का स्वभाव है। इस संचरण-वृत्ति से ही भाषाओं का निर्माण हुआ है। एक सीमित मानव आवास क्षेत्र के अन्तर्गत किसी अलक्ष्य स्रोत से उदित होकर शब्द अधिक विस्तृत क्षेत्रों में फैल गये। एक क्षेत्र की परिधि में शब्दों के द्रुत संचार से विश्व की विभिन्न भाषाओं की रचना हुई है। मनुष्यों के अन्तर्क्षेत्रीय संचार के द्वारा एक भाषा के शब्दों का अन्य भाषाओं में अनुग्रहण हुआ है। अनुग्रहण के द्वारा ही बालक भाषा सीखता है और एक क्षेत्र के अन्तर्गत भाषा परम्परा में रूढ़ होती है। अनुग्रहण और संचरण भाषा का स्वभाव है अत: एक भाषा के शब्द अन्य भाषाओं में मिल जाते हैं। संचरण के द्वारा ही जातियों के मिश्रण की भाँति भाषाओं में भी मिश्रण हुआ है।

शब्द संचार के दो प्रकार हैं। एक प्रकार में एक मूलभाषा से अनेक उपभाषाओं में शब्दों का संचार होता है। आदिम भारोपीय भाषाओं में ग्रीक-लैटिन से अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं तथा संस्कृत से अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में शब्दों का संचार एवं अनुग्रहण इसी प्रकार से हुआ है। यह शब्द-संचार जाति के सामूहिक संचरण द्वारा होता है। एक मूल निवास से आदिम आर्य जाति ने विभिन्न दिशाओं में प्रस्थान किया। उनके साथ उनकी भाषा भी विभिन्न क्षेत्रों में फैली एवं विकसित हुई। भारोपीय कहलाने वाली भाषाएँ इसी प्रकार उत्पन्न और विकसित हुई हैं। शब्द-संचार का दूसरा प्रकार सामूहिक नहीं वरन् फुटकर एवं सीमित है। इसमें समस्त जाति एवं समस्त भाषा का संचरण नहीं होता वरन् जाति के कुछ व्यक्तियों का तथा भाषा के कुछ शब्दों का ही संचरण होता है। दोनों प्रकार के संचरण में एक और अन्तर है। पहले प्रकार के संचरण में जाति और भाषा के मूल प्रदेश में भाषा का अस्तित्व मूल

रूप में बने रहने की संभावना कम रहती है। दूसरे प्रकार के संचरण में मूलभाषा अपने मूल प्रदेश में सुरक्षित रहती है। उसका आंशिक प्रभाव अन्य भाषाओं पर होता है। दूसरे प्रकार के शब्द संचार के दो उपभेद किये जा सकते हैं। एक भेद में एक भाषा का अनेक भाषाओं पर व्यापक प्रभाव होता है जैसा कि ग्रीक-लैटिन का अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं पर तथा संस्कृत का आर्वाचीन भारतीय भाषाओं पर हुआ। दूसरे भेद में एक भाषा का अनेक भाषाओं पर व्यापक नहीं किन्तु एक भाषा अथवा कई भाषाओं का पारस्परिक प्रभाव होता है। अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं का या अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का एक दूसरे पर परस्पर प्रभाव इसी प्रकार का है। " जर्मन के kultur, kindergarten, gesfelt तथा फ्रेंच के resume, attache, nuance आदि शब्द इसी प्रकार के संचरण के उदाहरण हैं। "(7)

भाषा-विज्ञान का एक स्वीकृत सत्य शब्द संचरण है। इसी के आधार पर भाषाओं के परस्पर संबंध और भाषा-परिवारों के विषय में विचार किया जाता है किन्तु शब्दों के भेदों उनके सापेक्ष सांस्कृतिक वैभव आदि के अनुसार ही शब्द-संचरण की प्रक्रिया का भाषा-विज्ञान के निर्णयों में उपयोग होना चाहिए अन्यथा संचरण को एक सामान्य तथ्य के रूप में ग्रहण करने पर उससे भ्रान्तिपूर्ण निर्णय निकाले जा सकते हैं। आदिम यूरोपीय भाषा तथा भारोपीय भाषा-परिवार के संबंध में किये गये निर्णय इसी प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण निर्णय हैं।

जीवन और संस्कृति के दृष्टिकोण एवं धरातल के अनुसार शब्दों के धरातल और उनकी सांस्कृतिक स्थिति में भी अन्तर होता है। सभी शब्द एक ही धरातल के नहीं होते। सांस्कृतिक शब्द संचरण की दृष्टि से सर्वाधिक गुरु,दुर्बह और दुर्ग्राह्य होते हैं। प्राकृतिक जीवन के तथ्यों के वाचक शब्द तथा विचार प्रत्ययों के सूचक शब्द सामान्य होने के कारण सुग्राह्य होते हैं उनके मूलों में जटिलता के तन्तु नहीं होते जिनके कारण अनुग्रहण में कठिनाई होती है। उनका अनुग्रहण सरल है। प्रकृति या विचार की सामान्यता के कारण प्राकृतिक,व्यावहारिक और वैचारिक धरातल के शब्दों में एक सहज प्रसारशीलता होती है। विभिन्न भाषाओं में जो समान शब्द मिलते हैं उनका अध्ययन करने से यह तथ्य प्रमाणित हो सकता है। इनमें अधिक शब्द प्राकृतिक और व्यावहारिक होंगे जैसे मातृ,पितृ आदि। इनके आधार पर भारोपीय भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्ध की कल्पना की गई है। ये प्राकृतिक और सामान्य मानवीय संबंधों के वाचक शब्द हैं। संस्कृत में इन शब्दों के सांस्कृतिक सूत्र

जटिल हैं। सांस्कृतिक तर्क की दृष्टि से ये शब्द मूल भारतीय शब्द सिद्ध होंगे तथा शब्दों के संचरण की दिशा भारत से पश्चिम की ओर माननी होगी।

इन्द्र,मित्र आदि देवता वाचक शब्दों की संस्कृत तथा हित्ती भाषाओं में समानता का विचार सांस्कृतिक दृष्टिकोण से करना होगा। अन्य अनेक सांस्कृतिक शब्द कई भाषाओं में समान रूप में मिलेंगे। शाब्दिक समानता के साथ उन शब्दों के सांस्कृतिक वैभव में बहुत अन्तर मिलेगा। इसका कारण यह है कि शब्दों के बाह्य ध्वनि रूप का संचरण और अनुग्रहण सरल है किन्तु उसके जटिल सांस्कृतिक सन्दर्भों एवं भावों का अनुग्रहण कठिन है। इस कठिनता के कारण अनुग्रहण में भाव तथा अन्य प्रकार से सांस्कृतिक वैभव का **ह्रास** होता है। विभिन्न भाषाओं के समान शब्दों के सांस्कृतिक वैभव के तुलनात्मक अध्ययन से इन शब्दों की मूल जन्मभूमि तथा इनके संचरण की दिशा का अधिक संगत निर्णय किया जा सकता है। जिस देश और भाषा में इन शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भ,रूप और भाव सर्वाधिक समृद्ध हैं वह देश और भाषा इन शब्दों के पितर हैं। इस आधार पर मातृ,पितृ, इन्द्र,मित्र आदि शब्दों की मूल जन्मभूमि भारत है तथा शब्द-संचार भारत से पश्चिम की ओर हुआ है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ.हरदेव बाहरी-हिन्दी :उद्भव,विकास और रूप,पृष्ठ संख्या 135
2. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 149
3. कन्हैयालाल शर्मा-वैविध्यपूर्ण भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 113
4. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 153
5. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 155
6. वही,पृष्ठ संख्या 156
7. वही,पृष्ठ संख्या 157

अध्याय-7

शब्दों का संस्कृतिपरक अध्ययन और विश्लेषण

शब्दों का सांस्कृतिक अध्ययन सामान्य रूप से भाषाओं के सांस्कृतिक स्वरूप के निर्धारण के लिए उपयोगी है। इससे भाषाओं के बारे में कुछ निर्णायक सूत्र मिल सकेंगे। भाषा के इतिहास,उद्भव,विकास,भाषा-परिवार,शब्द-संचरण आदि के सम्बन्ध में संगत एवं मान्य निर्णय करने में इससे बहुत सहायता मिलेगी। शब्दों के संस्कृतिपरक सूत्र और सन्दर्भ अनेक प्रकार के होते हैं। संकल्प,रूप और भाव का अतिशय ,विशिष्टता,व्युत्पत्ति की जटिलता,अर्थ-सन्दर्भ,जीवन-संस्कार आदि शब्दों के संस्कृतिपरक सूत्रों के वे सूक्ष्म तन्तु हैं,जिनके समवाय से उनकी रचना होती है। अनुग्रहण में भी कुछ संकल्प अपेक्षित हैं किन्तु शब्द की मौलिक रचना में अधिक संकल्प का योग रहता है। शब्द की इस रचना में व्युत्पत्ति संबंधी जितनी जटिलता होती है तथा अर्थ-सन्दर्भ व जीवन संस्कार जितने सम्पन्न होते हैं उतना ही अधिक संकल्प शब्द की रचना में व्यय होता है। रूप और भाव का अतिशय भी अपनी समृद्धि के अनुपात में संकल्प की अपेक्षा करता है।

सांस्कृतिक संकल्प का उत्कर्ष शब्द के स्वरूप को इतना जटिल और गुरु बना देता है कि उसकी रचना एक चमत्कार बन जाती है। इस चमत्कार का अधिगम व अनुकरण अत्यन्त कठिन है। सरल और लघुभार वस्तुओं तथा शब्दों का ही वातावरण में सरलता से संचार होता है। पत्र-पुष्प हवा में उड़ते रहते हैं। रत्न आदि गुरु पदार्थ नहीं उड़ते। पेड़-पत्थरों को ढोने के लिए कठिन प्रयास करने पड़ते हैं। ये प्रयास और प्रबन्ध आवश्यकता, उपयोगिता, स्वार्थ आदि की प्रबल प्राकृतिक प्रेरणा से सम्पोषित होते हैं। प्राकृतिक भावों के वाचक सामान्य शब्दों में ऐसी प्राकृतिक प्रेरणा कुछ अवश्य होती है अत: ऐसे शब्दों का संचार और अनुग्रहण सुगमता से होता है। आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता के विकास के कारण शब्दों के निर्माण और ग्रहण में मानव चेतना अधिक सचेष्ट हो गई है। इसी सचेष्टता के द्वारा यूरोपीय भाषाओं में पिछली शताब्दियों में असंख्य वैचारिक और वैज्ञानिक शब्दों का निर्माण ग्रीक, लैटिन शब्द मूल्यों के योग से हुआ है तथा अनेक शब्दों का अनुग्रहण हुआ है।

प्राचीनकाल में शब्दों के निर्माण एवं अनुग्रहण में ऐसी सचेष्टता की कल्पना नहीं की जा सकती ये प्रक्रिया सहज रूप से हुई होगी। अधिकांश शब्द प्राकृतिक आवश्यकता और प्रेरणा से बने होंगे,यद्यपि इनके निर्माण में भी कुछ सांस्कृतिक संकल्प का योग अपेक्षित रहा होगा। ऐसे शब्दों के संचार एवं अनुग्रहण की संभावना अधिक रही होगी। भारत,ग्रीक आदि के समान सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से कुछ उन्नत देशों में ही संस्कृतिपरक स्वरूप और संदर्भ के शब्दों का निर्माण अधिक हुआ होगा। संस्कृत भाषा के नाम और उसके प्राचीन शब्दकोश में संस्कृतिपरक स्वरूप एवं सन्दर्भ से सम्पन्न शब्दों के कुछ अधिक समृद्ध सांस्कृतिक संकल्प और वैभव के प्रमाण मिलते हैं।

स्वरूप की जटिलता तथा सन्दर्भों की गुरुता के कारण सांस्कृतिक शब्दों का अनुग्रहण दुष्कर होता है। यदि किन्हीं परिस्थितियों में सांस्कृतिक शब्दों का अनुग्रहण होता है तो इस अनुग्रहण की प्रक्रिया में शब्दों के स्वरूप,सन्दर्भ और भाव के वैभव का **ह्रास** होता है। विभिन्न भाषाओं में मिलने वाले समान शब्दों के स्वरूप,सन्दर्भ और भाव की समृद्धि का तुलनात्मक विवेचन करने से इन शब्दों की मौलिक जन्मभूमि तथा इनके संचार की दिशा का बहुत कुछ संगत निर्णय किया जा सकता है। जो सांस्कृतिक शब्द जिस भाषा और प्रदेश में निर्मिति के स्वरूप में अधिक जटिलता से युक्त है तथा रूप और भाव के अतिशय से अधिक समृद्ध है और सन्दर्भों में अधिक सम्पन्न है उस भाषा और देश का ही उस शब्द की जन्मभूमि का भाव उचित है। शब्दों की भाँति संस्कृति का संचार भी कठिन है। जाति के संचार से भी संस्कृति का **ह्रास** होता है। संचार के साथ स्मृति और परम्परा के द्वारा संस्कृति का निर्वाह कठिन है। अनुग्रहण में संस्कृति के भावों का और अधिक **ह्रास** होता है अत: संस्कृति भी बहुत कुछ स्थानीय है। वह उन वृक्षों के उद्यान के समान है जिनका स्थानान्तरण कठिन है। भाषा भी मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि है अत: संस्कृति के अन्य रूपों की भाँति भाषा का,शब्दों का तथा सबसे अधिक सांस्कृतिक स्वरूप एवं सन्दर्भों के शब्दों का संचार और अनुग्रहण कठिन है। सांस्कृतिक शब्दों के रूपों और भावों की समृद्धि तथा इनके **ह्रास** के तुलनात्मक अध्ययन से उनकी मौलिक जन्मभूमि तथा उनके आसार की दिशा का अत्यन्त संगत निर्णय किया जा सकता है।

इस निर्णय से भाषा-परिवार,भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध,शब्दों के अनुग्रहण

आदि कुछ गहन प्रश्नों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकेगा। इस दृष्टि से शब्दों का संस्कृतिपरक अध्ययन भाषा-विज्ञान के विकास में संस्कृति के योगदान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है।

(क) पद के रूप और पद की गति

संस्कृत का **पद** शब्द और **पद** धातु के संस्कृतिपरक विश्लेषण के परिणाम बड़े आश्चर्यजनक होंगे। सामान्यत: **पद** शब्द चरण या पैर का वाचक संज्ञापद है किन्तु **पद** धातु चलने के अतिरिक्त वर्णन,निरूपण आदि के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। प्रतिपादन,सम्पादन,निष्पादन,पद्य आदि उसी से बनते हैं। ग्रीक,लैटिन,अंग्रेजी आदि में चरण(पैर)का वाचक **पद** शब्द ही प्रयुक्त होता है। सामान्य और सरल होने के कारण उसका ही संचार और अनुग्रहण हो सका है। वर्णन,निरूपण आदि की वाचक **पद** धातु का संचरण नहीं हो सका,क्योंकि उसमें कुछ अर्थ की जटिलता है तथा उसके निर्माण की भाँति उसके अनुग्रहण के लिए भी अधिक सचेतन और सचेष्ट संकल्प अपेक्षित है। चरण(पैर)के वाचक **पद** से ग्रीक,अंग्रेजी आदि में जो विविध शब्द बने हैं उन सब में **चरण** के **चिह्न** हैं अर्थात् **पद** की गति की छाप है। पैडागोगी शिक्षा की प्रणाली है,किन्तु वह अरस्तु के पद संचार पूर्वक पढ़ाने के कारण स्थिति सन्दर्भ के द्वारा घटित है। यह शब्द का सहज अथवा संकल्पजन्य भाव-विस्तार नहीं वरन् ऐतिहासिक सन्दर्भ से प्रभावित अर्थ-विस्तार है। पैडन्टिक(pedantic)शब्द की अर्थ-भंगिमा पैडागोगी (pedagogy) से अनुग्रहीत और शिक्षक के पाण्डित्यपरक दम्भ से प्रेरित है। स्टाम्पीड (stampede) में तो सामूहिक पदचार का ही भाव है। इम्पीड(Impde)में अवश्य कुछ मौलिक अर्थ-विस्तार हुआ है यद्यपि उसमें भी बाधा का भाव मूलत: बाधक पदचार अर्थात् आ धमकने से आया है। **पद** के बीज से निर्मित अंग्रेजी के शब्दों में **पद**(पैर) की छाप है तथा भाव-विस्तार अधिक मौलिक दिशाओं और सन्दर्भों में नहीं,जिनके लिए संकल्प अपेक्षित हो। अरस्तु के अध्यापन काल के पदचार,आ धमकने आदि के सन्दर्भ-विस्तार से पद युक्त शब्द अंग्रेजी में बने हैं। वे सब चरण(**पैर**)वाचक पद से ही बने हैं। विवरण, निरूपण आदि की वाचक पद धातु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

संस्कृत में **पद** संज्ञा के अतिरिक्त निरूपणार्थक **पद** धातु का होना

आरम्भ से ही संस्कृत की इस सन्दर्भ में सम्पन्नता का परिचायक है। फिर इनसे बनने वाले शब्द रूपों की विविधता तथा इनके अभिनव सांस्कृतिक सन्दर्भ इस सम्पन्नता की सांस्कृतिक महिमा और मौलिकता का समर्थन करते हैं। **पद** शब्द संस्कृत में **चरण** का ही वाचक रहा है। इससे बनने वाले रूपों में भी **पद** की छाप है। अंग्रेजी के समान ऐतिहासिक,घातक और बाधक सन्दर्भ भी इसमें अनुबद्ध न हो सके। ऐतिहासिक सन्दर्भ संयोगजन्य होते हैं,संकल्पजन्य नहीं। आसन पर बैठकर पढ़ाने वाले आचार्यों के देश में शिक्षा-विधि का सम्बन्ध पदचार से नहीं हो सकता था जैसा कि अरस्तु के पदचारपूर्वक पढ़ाने से पैडागोगी (pedagogy)में हुआ। स्टाम्पीड(stampede)और इम्पीड में कुछ सभ्यता और आचार के सूत्र हैं जो भारत में विकसित नहीं हुए किन्तु सांस्कृतिक जीवन के सन्दर्भों से **पद** का भाव विस्तार दर्शनीय है। **पद** शब्द सामान्य भाव से चरण (पैर)का वाचक है। मनुष्य और पशु दोनों ही पदचारी हैं किन्तु संस्कृत के **पद** शब्द के रूप और अर्थ-विस्तार में चतुरापद पशु के **पद** का प्रभाव दिखाई देता है।" **पद** से **पाद** शब्द बनता है जो चतुर्थांश का वाचक है। **पद** चतुष्चरण छन्द की एक पंक्ति को भी कहते हैं। **सपाद** सवाये अर्थात् चतुर्थांश सहित एक को कहते हैं। **पादोऽस्य सर्वा भूतानि** के प्राचीन वैदिक वाक्य में **पाद** का प्रयोग चतुर्थांश के अर्थ में हुआ है। पाणिनी, बादरायण आदि के सूत्र ग्रन्थों में अध्यायों के चार भागों को **पाद** का नाम दिया गया है। "(1)

चतुर्थांश के अर्थ में **पाद** का प्रयोग संस्कृत भाषा की परम्परा में **पद** के पशु-सन्दर्भ का सूचक है। इस पशु-सन्दर्भ से संस्कृत के **पद** शब्द की प्राचीनता लक्षित होती है। मनुष्य के **चरण** के सामान्य अर्थ में इसका ग्रहण,जैसा कि यूरोपीय भाषाओं में हुआ है कुछ अर्वाचीनता को इंगित करता है।" **पद** का पशु सन्दर्भ पशु-चरणों की गणना से ही सम्बन्धित नहीं वरन् इसकी गणना से भी पूर्व धरती में बने पशु चरणों के **चिह्नों** तथा मृगयार्थ उनकी खोज है। ये चरण-**चिह्न** यूरोप की पथरीली भूमि में उतने स्पष्ट नहीं हैं जितने भारत की मृण्मयी धरती में। "(2) इसी कारण चरण **चिह्नों** की छाप पश्चिमी भाषाओं में अनुग्रहीत **पद** शब्द में नहीं है।

यद्यपि चरण वाचक **पद** शब्द के संस्कृत भाषा में ऐसे योगिक नहीं बने हैं जैसे कि अंग्रेजी में बने हैं किन्तु भारतीय संस्कृत की परम्परा में अनेक सन्दर्भों में **पद** शब्द चर्चित हुआ है। " **पद-वन्दन** एक विशिष्ट

भारतीय शिष्टाचार है। **पद-रज,पदार्घ्य,चरणामृत** आदि पद से सम्बद्ध श्रद्धामय आचारों के रूप हैं। **पद-वन्दन** के सम्मान के सूत्र से ही **पद** शब्द अधिकार और उन्नति के सूचक स्थान या स्थिति का वाचक बना। राजपद,मन्त्रीपद आदि उसके उदाहरण हैं। "(3) **पादपीठ** भी एक विशिष्ट सांस्कृतिक वस्तु है। " इसी आदर के सूत्र से पितृपाद,गुरुपाद आदि शब्दों के आदर सूचक बहुवचन के साथ पितृ,गुरु आदि के साथ अतिरिक्त प्रत्यय के रूप में **पद** शब्द का संयोग हुआ। "(4) **पद** शब्द के उन सांस्कृतिक संदर्भों का विस्तार भाषा-विधान की शक्ति का नहीं वरन् शब्द के सांस्कृतिक भाव-विस्तार का प्रमाण है। यह सांस्कृतिक भाव-विस्तार किसी आगन्तुक अथवा अनुग्रहीत शब्द के विषय में सम्भव नहीं है। इसी कारण यूरोपीय भाषाओं में **पद** से बने हुए रूप केवल **पदचाप** के प्रभाव के विस्तार हैं। उनमें कोई संकल्पजन्य सांस्कृतिक सन्दर्भ समवेत नहीं है।

उक्त संस्कृतिपरक तर्क से **पद** की मौलिक भारतीयता प्रमाणित होती है तथा **पद** शब्द के पदचार की दिशा भारत से पश्चिम की ओर लक्षित होती है। निरूपण वाचक **पद** धातु तथा उससे निर्मित शब्दों का सहकारी तर्क उक्त संस्कृतिपरक तर्क को और पुष्ट करता है। **सुबन्त** [5] **तिङन्त** [6] शब्द के अर्थ में **पद** का प्रयोग ,भाषा तथा अर्थ से **पद** के मौलिक संबंध को सूचित करता है। **पद** से **पदार्थ** बनता है जो पद अर्थात् शब्द से वाच्य है। सभी वस्तुएँ **पदार्थ** हैं। तर्कशास्त्र के **पदार्थ** तथा आचार और अध्यात्म के पुरूषार्थ रूप **पदार्थ पद** का सांस्कृतिक मूल्यों से संबंध स्थापित करते हैं। **पद्य** में **पद** का निरूपण वैचारिक से काव्यात्मक बन जाता है। सूर,तुलसी और मीरा के भक्तिपूर्ण भजन भी **पद** की संज्ञा पाते हैं। इस प्रकार क्रियार्थक **पद** धातु के वर्धमान सांस्कृतिक सन्दर्भ चरण वाचक **पद** की भारतीयता के निमित्त दिये गये सांस्कृतिक तर्कों का मण्डन करते हैं।

(ख) शब्दों का इतिहास और उनकी संस्कृति

शब्द मानव-जीवन के जीवन्त प्रतीक हैं। वे केवल व्यवहार और सम्प्रेषण के माध्यम नहीं वरन् समाज के जीवन,इतिहास और उनकी संस्कृति के सूक्ष्म दर्पण हैं। उनकी लघु काया में मानव समाज का युग-युग का इतिहास समाहित है। विश्लेषण के द्वारा इस इतिहास के अध्यायों को खोला जा सकता है। इस इतिहास की दृष्टि से शब्दों का अध्ययन अपेक्षित है। शब्दों का इतिहास उधार

नहीं लिया जा सकता अत: इतिहास के सूत्र से शब्दों की मूल जन्मभूमि का पता लगाया जा सकता है।"आहार,मृगया,कुशल आदि शब्दों को इतिहास के उदाहरण के लिए चुना जा सकता है। "(7) इनका इतिहास लम्बा और रोचक है। **आहार** का अर्थ आज भोजन है किन्तु आहार शब्द की निर्मिति में भोजन का भाव कहीं नहीं है। यह **हर** धातु से बना है। हर का अर्थ है हरण करना,खींचना, बलपूर्वक ले जाना आदि जैसे सीताहरण शब्द। आहार की व्युत्पत्ति **आ+हर** होगी। आ उपसर्ग अवधि-सूचक है। किसी निश्चित स्थान तक(घर तक)खींचना आहार है। आखेट युग मे पशु को मारकर घर तक खींचकर लाते थे। पशु ही मनुष्य का भोजन था अत: संज्ञा भाव से आहार शब्द भोजन का वाचक बन गया। आज अन्नाहार,फलाहार, दुग्धाहार सबके लिए उसका अभेदपूर्वक व्यवहार होता है।

ऐसा ही रोचक इतिहास मृग का है। मृग आज एक विशेष जाति के पशु का वाचक है। सामान्य अर्थ में पशु के लिए भी मृग का प्रयोग होता है तभी सिंह को मृगराज कहते हैं। सिंह केवल कोमल मृगों का ही नहीं वरन् सभी पशुओं का राजा है किन्तु मृग का मूल अर्थ न हिरण है और न पशु। मृग का संबंध मार्ग से है। दोनों एक ही मृग धातु से बने हैं,जिसका अर्थ है खोजना। चरण-**चिह्नों** के सहारे लोग आदिम आखेट युग में पशुओं को खोजते थे। इसी खोज के सूत्र से जिसे खोजते थे वह मृग कहलाया और जिस सरणि से खोजते थे वह मार्ग कहलाया। इस प्रकार खोज का लक्ष्य मृग अन्वेष्य सामान्य पशु का वाचक बन गया। आगे चलकर सभ्यता के प्रभाव से मनुष्य दुर्बल हुआ तथा नगर और ग्रामों के विकास के कारण अन्य पशु वनों में छिपकर रहने लगे। एक अहिंसक हिरण मनुष्य का अर्ध-बन्धु बन गया। हिंसक पशुओं से बचकर वह मनुष्य के निकट शरण खोजने लगा। ऋषियों के आश्रम में उनको अभय मिला किन्तु मांस और मृगचर्म के लोभी मनुष्य उसे भी मारने को ढूंढ़ते थे। आश्रमों में मृग-बध भले ही वर्जित हो किन्तु वन में उसे वे खोज सकते थे। हिंसक पशुओं और आश्रमों के बीच भटकते हुए हिरण मिल जाते थे। हिंसक पशुओं का बध कठिन होने के कारण सुबध्य हिरण की खोज ही आखेट-चारियों का व्यवसाय बन गया। तभी सामान्य पशु का वाचक मृग शब्द हिरण के अर्थ में सीमित हो गया। सामान्य और सीमित दोनों ही अर्थों में उसका प्रयोग होता है। इसका कारण मृग शब्द का द्विविधापूर्ण इतिहास है।

कुशल शब्द की कथा भी ऐसी ही रोचक है। उसका अर्थ योग्य है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका संबंध कुश से है। आश्रम और मार्ग के लिए स्थान साफ करने के लिए तथा आसन-निर्माण और धार्मिक कृत्य के लिए कुशों का उत्पादन प्राचीनकाल में किया जाता था। गुरुओं के पास रहने वाले छात्र कुश उखाड़ने का कार्य करते थे। कुश उखाड़ने में हाथ घायल होने का डर रहता है। सावधान न रहने पर हाथ घायल हो जाते थे। अधिक सावधानी से ही हाथ बचाकर कुश लाये जा सकते हैं। उखाड़ने के लिए **लव** धातु का प्रयोग होता है। आज भी ग्रामों में खेत काटने को **लावनी** कहते हैं। कुशल का मूल अर्थ सावधानी से हाथ बचाकर कुश उखाड़कर लाना है। सावधानी से कुश लाने वाला छात्र कुशल कहलाने लगा। आगे चलकर मृग के विशेषीकरण के विपरीत कुशल शब्द का सामान्यीकरण हो गया। कुशोत्पाटन के अतिरिक्त अन्य कार्य भी सावधानी से करने वाला कुशल कहलाया। जीवन में कौशल का भी व्यापन होता है। जीवन के सूत्र से भाषा में कुशल शब्द का सामान्यीकरण हुआ।

इस प्रकार अनेक शब्दों का लंबा और रोचक इतिहास है।"पत्र,पुष्प, घट,जल,कलश,दीपक आदि अनेक शब्दों के साथ समृद्ध सांस्कृतिक भाव संलग्न हो गये हैं। "[8] वे सामान्य शब्द होने के साथ-साथ संस्कृतिपरक भावों से समृद्ध हैं।

शब्दों का इतिहास और संस्कृति का अध्ययन मनोरंजक तो है ही, साथ ही महत्वपूर्ण भी है। इसके द्वारा शब्दों की निर्मिति,उनकी अन्तर्भावना,उनकी मूल जन्मभूमि आदि महत्वपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक बातों का पता लगता है तथा भाषा-विज्ञान के अध्ययन को नई दिशा और नया प्रकाश मिलता है। केवल ध्वनियों के प्राकृतिक आधार और उनके परिवर्तन तक सीमित रहकर भाषा-विज्ञान भाषाओं के गहन सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 171-172
2. कन्हैयालाल शर्मा-वैविध्यपूर्ण भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 103
3. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 172
4. डॉ.हरदेव बाहरी-हिन्दी :उद्भव,विकास और रूप,पृष्ठ संख्या 140

5. सु,औ,जस्,अम् आदि संस्कृत के 21 प्रत्यय जिनसे शब्द-रूप बनते हैं।
6. तिप्,तस्,झि,मिप् आदि संस्कृत के 9 प्रत्यय जिनसे क्रिया-रूप बनते हैं।
7. डॉ.रामानन्द तिवारी-सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 185
8. कन्हैयालाल शर्मा-वैविध्यपूर्ण भाषा-विज्ञान,पृष्ठ संख्या 105

संहरण

(क) सांस्कृतिक वाक्य-विज्ञान

वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की मुख्य इकाई वाक्य ही है। भाषा का प्रयोजन अर्थ की अभिव्यक्ति व सम्प्रेषण है। इसी प्रयोजन की प्रेरणा से भाषा का मनुष्य जीवन में विकास हुआ है। अर्थ सदा वाक्य के द्वारा ही व्यक्त होता है,चाहे वाक्य का रूप प्रत्यक्ष में स्पष्ट न हो। बालक शब्द ही बोलते हैं किन्तु उनका अभिप्राय वाक्य से होता है। एक शब्द ही वाक्य का संकेत करता है जैसे रोटी,पानी कहने से बालक का अभिप्राय पूरे वाक्य से होता है। विचार या व्यवहार का अभिप्राय पूरे वाक्य द्वारा व्यक्त होता है। व्यवहार में संक्षेप व सुविधा के कारण वाक्य के अभिप्राय का निर्देश हम मुख्य शब्द द्वारा करते हैं किन्तु विचार और लेखन में पूरे वाक्य द्वारा ही अभिप्राय व्यक्त किया जाता है। एक शब्द संज्ञा,क्रिया या विशेषण हो सकता है। एक शब्द वस्तु,क्रिया आदि का निर्देश तो करेगा किन्तु उसके सन्दर्भ में वक्ता का विशेष आशय क्या है यह केवल एक शब्द से नहीं वरन् संज्ञा,क्रिया,कर्म आदि के संबंध द्वारा विदित होता है। मनुष्य का अभिप्राय एक जटिल और विशिष्ट तात्पर्य से होता है जो संज्ञा,क्रिया,कर्म आदि के विशेष संबंधों द्वारा ही पूर्ण वाक्य में प्रकट होता है।

अत: भाषा की वास्तविक इकाई वाक्य ही है और वाक्य के अध्ययन में ही भाषा-विज्ञान की परिणति अभीष्ट है। व्यवहार और विचार के विभिन्न अभिप्राय वाक्यों में शब्दों के विविध प्रकार के संबंधों के द्वारा वाक्य-विन्यास की विविध भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। वाक्यगत शब्दों के सम्बन्ध तथा वाक्यों के विन्यास की भंगिमाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं,यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है। वर्णों,शब्दों और वाक्यों से निर्मित भाषा मनुष्य की प्राकृतिक उच्चारण क्षमता,व्यावहारिक आकांक्षा,बौद्धिक आकांक्षा,सांस्कृतिक अभीप्सा और आत्मिक प्रेरणा के संयोग का परिणाम है। प्राकृतिक उच्चारण क्षमता सामान्य ध्वनियों में व्यक्त हुई है। ये ध्वनियाँ कुछ अन्तरों के साथ प्राय: सभी भाषाओं के शब्दों और वाक्यों में पाई जाती हैं। इन ध्वनियों की भंगिमाओं

तथा वाक्यों में इनके उच्चारण की भंगिमाओं के विशेष रूप कुछ भौगोलिक क्षेत्रों की जलवायु और उनके निवासियों के जीवन की प्राकृतिक सीमाओं तथा समाज के बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं आत्मिक संकल्प के प्रभाव से समायोजित हुए हैं। संस्कृत में बौद्धिक और सांस्कृतिक संकल्प की अधिकता से वर्ण-व्यवस्था में सांस्कृतिक विशिष्टता अन्य भाषाओं से अधिक समाहित हुई है।

शब्दों के निर्माण में मनुष्य का बौद्धिक कौशल और सांस्कृतिक संकल्प अधिक विपुल रूप में फलित हुआ है। सब भाषाओं के अनेक शब्दों में सांस्कृतिक संकल्प के प्रभाव मिलते हैं। संस्कृत के अनेक शब्द विपुल सांस्कृतिक सूत्रों,सन्दर्भों और संस्कारों से सम्पन्न हैं। वाक्यों की रचना में बुद्धि का योग अधिक है। जहाँ शब्दों के संस्कारों में सांस्कृतिक प्रेरणा से अतिशय की वृत्ति अधिक रहती है,वहाँ वाक्यों के निर्माण में उपयोगिता और मितव्ययता का प्रभाव अधिक रहता है। शब्द अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं। व्यावहारिक शब्दों में उपयोगिता और भाव की यथार्थता अधिक है किन्तु अनेक शब्द अमितभाव के प्रतीक हैं। शब्दों की इस प्रतीकात्मकता में भाषा और अभिव्यक्ति की सीमित व असीम क्षमता दोनों का संकेत मिलता है। प्रतीकात्मक शब्दों के प्रभाव से वाक्यों में भी अभिव्यक्ति के अतिशय उद्वेलित होते हैं किन्तु व्यवहार और व्याकरण की बौद्धिक व्यवस्था की दृष्टि से वाक्यों के प्रत्यक्ष रूप और भेद बहुत सीमित हैं। उनके अध्ययन में बौद्धिक योजना का विश्लेषण ही अधिक संभव है। अभिव्यक्ति के सांस्कृतिक अतिशयों के निरूपण का अधिक अवकाश नहीं है। वाक्यों के निर्माण में बौद्धिक संकल्प व व्यावहारिक प्रयोजन का प्रभाव अधिक होने के कारण उनके रूप विविध भाषाओं में सीमित हैं। जातिगत विशेषताओं के कारण ही इन वाक्यों की व्यवस्था में कुछ ऐसे अन्तर आ गये हैं जिन्हें सांस्कृतिक कहा जा सकता है। सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वाक्य व्यवहार और विचार की अपेक्षा साहित्यिक रचनाओं में अधिक मिलेंगे जिनमें वाक्य-विन्यास बौद्धिक की अपेक्षा रचनात्मक एवं सांस्कृतिक अधिक होते हैं अत: वे अभिव्यक्ति के सम्पन्न एवं समर्थ अतिशयों से परिपूर्ण होते हैं। वाक्य-विज्ञान का सांस्कृतिक अध्ययन साहित्य की रचनाओं के आधार पर अधिक उपयोगी हो सकता है।

(ख) सांस्कृतिक रूप-विज्ञान

रूप और तत्व भाषा के ही नहीं जगत् के अन्य विषयों के भी दो

मुख्य पक्ष हैं। रूप अभिव्यक्ति का आकार या माध्यम हैं। इसके द्वारा जो अभिव्यक्त होता है वह तत्व है। मिट्टी तत्व है,घट उसका रूप है,जिसके रूप में मिट्टी अभिव्यक्ति पाती है। ध्वनि व अर्थ भाषा के तत्व हैं। भाषा उनका रूप है जो उनको अभिव्यक्ति देती है। रूप और तत्व दोनों अभिन्न हैं एक का अस्तित्व दूसरे के बिना संभव नहीं है। भौतिक तत्व अधिक स्थायी होता है,वह नये रूप बदल सकता है। भाषा में दोनों में साथ-साथ परिवर्तन होता है। संस्कृत व्याकरण में मूल शब्दों और मूल धातुओं के विभिन्न विभक्तियों और लकारों के अनुरूप बदलने वाले आकारों को **रूप** कहते हैं। रामः,रामम्, रामेण आदि **राम** शब्द के प्रथमा,द्वितीया,तृतीया आदि विभक्तियों में बनने वाले रूप हैं। पठति,पठसि,पठामि आदि पठ् धातु के प्रथम,मध्यम व उत्तम पुरुष में बनने वाले रूप हैं। रूपान्वित शब्द या धातु ही प्रयोग के योग्य **पद** कहलाते हैं। संस्कृत में **सुप्तिङन्तम् पदम्** सूत्र से **पद** का यही लक्षण निर्धारित होता है।

रूप की इस धारणा के अनुसार शब्दों और क्रियाओं के विभक्तियों या प्रत्ययों के योग से बनने वाले विभिन्न आकारों को रूप मानकर रूप-विज्ञान में अध्ययन किया जाता है। भाषा-विज्ञान एक वर्णनात्मक अध्ययन है किन्तु रूप को उक्त अर्थ तक सीमित रखना व केवल वर्णनात्मक अध्ययन पर्याप्त नहीं है क्योंकि वर्ण-ध्वनियों और वाक्यों के आकार भी रूप के अन्तर्गत हैं। **वर्ण** ध्वनि-तत्व के रूप हैं। वाक्यों में वक्ता का अभिप्राय होता है। वर्ण,शब्द एवं वाक्य तीन रूप के प्रवाह की धाराएँ हैं। वर्णों से शब्द और शब्दों से वाक्य बनते हैं। भाषा में इन तीनों का संगम होता है यद्यपि वाक्य ही वाणी का मुख्य रूप है किन्तु वह अलक्ष्य है। वर्ण व शब्द की यमुना-गंगा ही भाषा के संगम में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। वर्ण की यमुना शब्द की गंगा में समाहित हो जाती है और शब्द की अग्रगामी धारा ही भाषा का मुख्य प्रवाह बन जाती है।

अस्तु वर्ण,शब्द और वाक्य के तीनों भेदों में भाषा के रूप और तत्व का अध्ययन अपेक्षित है। वर्ण,शब्द और वाक्य तीनों के ही क्षेत्र में मनुष्य के सांस्कृतिक संकल्प का प्रभाव दिखाई देता है। तीनों ही क्षेत्रों में रूप का विवेचन भाषाओं के विशेष कलात्मक सौन्दर्य और सांस्कृतिक वैभव का उद्घाटन करेगा। उच्चारण यंत्रों से मुखरित ध्वनियाँ भाषा के तत्व हैं। सभी भाषाओं में ये ध्वनियाँ लगभग समान हैं किन्तु इनके लिपिगत आकारों में अन्तर है क्योंकि इनका कोई

ऐसा प्राकृतिक आधार नहीं है। वर्ण-ध्वनियों की सांस्कृतिक विशेषता उनके विविक्त ध्वनि रूपों के निर्धारण और उच्चारण में मिलती है। ये विशेषता संस्कृत में सर्वाधिक है। संस्कृत वर्णमाला का क्रम वैज्ञानिक व सांस्कृतिक है। शब्दों व वाक्यों के संश्लिष्ट उच्चारण में ये वर्ण-ध्वनियाँ स्पष्ट रहती हैं। वैदिक भाषा की विलम्बित लय में ये स्पष्ट सुनाई देती हैं। वर्ण ध्वनियों के उच्चारणात्मक और लिप्यात्मक रूप की दृष्टि से संस्कृत भाषा सबसे अधिक सांस्कृतिक है।

रूप का वैभव सर्वाधिक शब्दों में मिलता है। शब्दों का ध्वन्यात्मक रूप उनकी विधायक वर्ण-ध्वनियों से निर्मित होता है। शब्दों में सांस्कृतिक रूप का वैभव उनके वर्ण क्रम से निर्मित विशेष रूप में मिलता है जिससे शब्द का व्यक्तित्व निर्धारित होता है तथा जो प्रत्येक शब्द को एक स्वतंत्र और पृथक रचना बनाता है। सीमित वर्ण-ध्वनियों से अनन्त शब्द सांस्कृतिक संकल्प के द्वारा वर्ण-योजना की अनन्त संभावना के अनुरूप बने हैं। शब्दों के अनंत रूप भाषा की सांस्कृतिक रूप-रचना के उदाहरण हैं। शब्द-रूपों की व्यवस्था के कुछ पक्षों में सांस्कृतिक प्रभाव दिखाई देता है। संस्कृत में लकार रूपों में अन्य पुरुष के रूपों को प्रथम स्थान देकर उसे प्रथम पुरुष कहा गया है। उत्तम पुरुष का स्थान तीसरा है। अन्य भाषाओं में उत्तम पुरुष को प्रथम स्थान दिया गया है। अहंकार के प्राकृतिक प्रभाव से सभी भाषाओं में उत्तम पुरुष को ही प्रथम पुरुष कहते हैं तथा अन्य पुरुष तृतीय स्थान पाता है किन्तु संस्कृत में ये क्रम विपरीत है। यह आत्मिक अद्वैत से प्रेरित सांस्कृतिक भावना का प्रभाव है जो संस्कृत की अनुपम विशेषता है।

वाक्यों में भी भाषा का रूप प्रकट होता है। भाषा की वास्तविक इकाई वाक्य ही है जिससे अभिप्राय प्रकट होता है। शब्दों के सम्बन्ध से वाक्य बनते हैं। वाक्यों के रूप भेद सीमित हैं। विभिन्न भाषाओं में जटिल वाक्यों की योजना के विशेष रूपों में उन भाषा-समाजों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। संस्कृत स्वरूप में संश्लिष्ट और प्रबल संकल्प से निर्वाह्य भाषा है। लम्बे समासयुक्त वाक्यों में इस संश्लिष्टता और संकल्प के उदाहरण मिलते हैं। अंग्रेजी के संयुक्त वाक्यों की रूप-रचना में अंग्रेजी समाज की लोकतान्त्रिक भावना का प्रतिबिम्ब मिलता है। मुहावरों और कहावतों में समाज की संस्कृति भाषा के वाक्यों की विशेष भंगिमा बनकर आती है। मुहावरे वाक्यों के वे रूप हैं जिनमें संस्कृति की व्यंजना शब्दों की अभिधा को आच्छादित कर

भाषा का अत्यन्त विशेष रूप रचती है। मुहावरों के पुष्प बोल-चाल की सजीव भाषा के उद्यान में खिलते हैं अत: संस्कृत में मुहावरे कम हैं। हिन्दी,साहित्य की अपेक्षा बोलचाल की भाषा अधिक रही है अत: हिन्दी में मुहावरे अधिक हैं। हिन्दी के मुहावरों में हिन्दी समाज की संस्कृति झलकती है।

(ग) सांस्कृतिक अर्थ-विज्ञान

अर्थ के साथ शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। सामान्यत: सभी शब्द अर्थवाही होते हैं। अर्थ सम्प्रेषण ही भाषा का प्रयोजन है। सम्प्रेषण की प्रेरणा से ही भाषा का निर्माण और विकास हुआ है। अर्थ ही भाषा का सार है। अर्थ के बीज से ही शब्दों के फल-फूल प्रस्फुटित होते हैं। अर्थ शब्दों और वाक्यों में प्रकट होता है। वर्णों में अर्थ की संभावना केवल संस्कृत में ही है। अन्य भाषाओं में वर्ण अर्थ के प्रतीक नहीं हैं। वे केवल ध्वनियों के संकेत हैं किन्तु शब्दों और वाक्यों में अर्थ का समवाय सभी भाषाओं में होता है। पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति तो वाक्य के द्वारा ही होती है किन्तु शब्दों में अर्थ के बीज व सूत्र रहते हैं। वाक्य में उनके संबंधों और सन्दर्भों द्वारा विशेष अभिप्राय के रूप में अर्थ प्रकट होता है।

शब्दों और वाक्यों में सन्निहित सार के रूप मे अर्थ का विवेचन भाषा-विज्ञान का मुख्य विषय है। ज्ञान और विचार की व्यंजना भाषा द्वारा होती है। भाषा का तत्व और सार तो अर्थ ही है। भाषा अर्थ की व्यंजना का माध्यम है। साहित्य में अभिव्यक्ति का कलात्मक सौन्दर्य साध्य होता है किन्तु साहित्य में अर्थ की महिमा कम नहीं होती। सामान्य व्यवहार की भाषा में अर्थ ही प्रधान होता है। मनुष्य सभ्यता के इतिहास में अर्थ सम्प्रेषण की अपेक्षा से ही भाषा का अभ्युदय और विकास हुआ है। भाषा में अर्थ का सन्निधान व्यावहारिक आवश्यकता और बौद्धिक संकल्प के द्वारा हुआ है। ये दोनों ही उपयोगी वृत्तियाँ हैं अत: इनमें अतिशय की संभावना नहीं होती। रूप में अतिशय अधिक संवर्धित होता है। भाव में अर्थ का अतिशय अवश्य प्रकट होता है। इस अतिशय में अर्थ विवेचन के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को दिशा मिल सकती है। अर्थ- सम्प्रेषण के सूत्र से आत्मिक साम्य की जिस सामाजिक भूमिका में भाषा का अभ्युदय हुआ है,उसमें अर्थ की सांस्कृतिक पीठिका स्थापित हो सकती है। जिस बौद्धिक संकल्प से शब्दों में अर्थ का सन्निधान हुआ वह स्वरूप से उपयोगी होता है किन्तु वृत्ति से वह भी सांस्कृतिक होता है।

भाषा-विज्ञान में अर्थ-व्यंजना,अर्थ-परिवर्तन का तथ्यात्मक विवरण किया जाता है किन्तु अर्थ-परिवर्तन के कुछ नियमों में सांस्कृतिक अन्तर्भाव हो सकता है। अर्थोत्कर्ष व अथापकर्ष सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों के परिवर्तन के कारण होते हैं,किन्तु इस परिवर्तन और इसके प्रभाव से सांस्कृतिक मूल्यों एवं भावों का परिवर्तन होता है अत: यह परिवर्तन मूलत: सांस्कृतिक है। शब्दों के अर्थ-विस्तार व अर्थ-संकोच में भी कुछ सांस्कृतिक अन्तर्भाव निहित होते हैं। वर्णों के अर्थ तथा शब्दों के विधायक खण्डों के अर्थ वैभव के आधार पर शब्दों की मूल मातृभूमि तथा संस्कृत भाषा की समृद्ध सांस्कृतिकता एवं मौलिक भारतीयता का निर्णय किया जा सकता है।

अर्थ का ग्रहण मनुष्य के मन में होता है। शब्द का उत्पादन व ग्रहण अंशत: प्राकृतिक है। ध्वनि एक प्राकृतिक तत्व है किन्तु अर्थ की अवगति मानसिक होती है। मूलत: शब्दों के अर्थ यादृच्छिक हैं अर्थात् सहमति के द्वारा एक समाज में शब्दों पर वे अर्थ आरोपित किये गये हैं जो आज उनके रूढ़ और निश्चित अर्थ माने जाते हैं। शब्दों में मूलत: अर्थ-संगति का कोई रहस्य निहित नहीं है। शब्दों में अर्थ योग की इस यादृच्छिकता और सहमति के पीछे सामाजिक समात्मभाव और आत्मिक अद्वैत की भूमिका रहती है। इस भूमिका के बिना न भाषा के अज्ञात आरम्भ में शब्दों का मूल अर्थ योग संभव था और न आज उनका प्रयोग व अर्थ-ग्रहण संभव है। यह समात्मभाव और अद्वैत मनुष्यों की भावात्मक एकता के रूप मे आदिम काल में भाषा के मानवीय रूप के अभ्युदय का मूल सांस्कृतिक बीज था। इसी बीज की लताओं के सूत्र भाषा के प्रयोग एवं विकास के अवलम्ब बने रहे हैं। इसी बीज के सम्पुट में दो व्यक्तित्वों के दो दल एक आत्मिक भाव के बिन्दु पर मिलकर भाषा के सृजन का पर्व रचते हैं। इसी पर्व में प्राकृतिक ध्वनियों में आत्मिक अर्थ का समवाय है।

आत्मिक आधार पर भाषा के अर्थ का विकास व्यावहारिक,बौद्धिक, भावनात्मक और सांस्कृतिक दिशाओं में हुआ। यादृच्छिक वर्ण-ध्वनियों के समूह शब्द बनकर विभिन्न वस्तुओं,क्रियाओं के वाचक के रूप में रूढ़ हो गये। प्राथमिक शब्द-रूपों को यादृच्छिक ही मानना होगा। यह सम्भव है उनमें कुछ शब्दों में सूक्ष्म ध्वन्यात्मक अर्थ-संगति हो तथा अधिक संगति व्यवहार के भावयोग से विकसित हो गई है। इस संगति का सन्निधान व विकास समाज के सांस्कृतिक भावयोग के द्वारा हुआ है। यह सांस्कृतिक भाव योग आगे चलकर विभिन्न भाषाओं का

सामान्य सांस्कृतिक रूप बना जिसके कारण एक भाषा का शब्द ज्यों का त्यों दूसरी भाषा में समाहित नहीं हो पाता वरन् उस भाषा की संस्कृति के अनुरूप रूप ग्रहण कर सम्मिलित होता है। अनुग्रहण में शब्दों के रूप परिवर्तन का यही कारण है। संस्कृत में **जीवन** शब्द **जल** का पर्याय बना। इस अर्थ में भारत की जलवायु प्रेरित जीवन-दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव है। **आहार** और **मृग** के अर्थ-परिवर्तन जीवन की परिस्थितियों और व्यवहार से नियमित जीवन-दृष्टि के प्रभाव से हुए हैं।

(घ) भाषा की संस्कृति

भाषाओं की एक विशेष संस्कृति भी होती है। संस्कृति मूलत: आत्मिक है। प्राकृतिक सामान्यता के विपरीत स्वतंत्र आत्मिक संकल्प के द्वारा विशेष रूपों में संस्कृति की रचना होती है। संस्कृति की रचनाएँ जीवन को समृद्ध बनाती हैं। रूपों और भावों के अतिशयों से इस समृद्धि का कोश सम्पन्न होता है। **रूप** अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिव्यक्ति के रूपों में रूप का अतिशय प्रकट होता है जो वर्ण-विवेक,ध्वनि-भंगिमा,ध्वनि-लय,शब्द-रूप निर्माण,वाक्य-विन्यास,संज्ञा,क्रिया आदि की भाषा में स्थिति आदि में खिलता है। **भाव** अनुभूति का आन्तरिक तत्व है। बौद्धिक अर्थों और आत्मिक अन्तर्भावों के अतिरेक में भाव का अतिशय मन में प्रस्फुटित होता है। प्राय: रूप और भाव के अतिशय एक-दूसरे में समवेत रहते हैं,यद्यपि उनमें अनुपात का अन्तर रहता है। भाषा की आत्मा सामान्य और व्यापक होती है। वह समस्त भाषा में व्याप्त रहती है,जैसे रस वनस्पतियों में व्याप्त रहता है। अन्य भाषाओं से भिन्न होने के अर्थ में एक भाषा की आत्मा विशेष होती है। सांस्कृतिक अतिशयों के रूप और भाव एक भाषा में ही अनेक होते हैं। वे विशेष आत्मा के अन्तर्गत तथा उससे अनुप्राप्त विविध एवं अनेक होते हैं। रूप और भाव के सांस्कृतिक अतिशय एक ही आत्मा के रस से पोषित विविध रंग और विविध आकार के पुष्पों एवं फलों के समान हैं।

रूप और भाव के ये अतिशय स्वतंत्र आत्मिक संकल्प से विरचित होते हैं। इस स्वतंत्रता के कारण ही ये विविध प्रकार के होते हैं। विभिन्न भाषाओं की बहुरूप विशेषताओं में ये सांस्कृतिक अतिशय मिलते हैं। विभिन्न भाषाओं के उच्चारण की विशेष भंगिमाएँ रूप के सांस्कृतिक अतिशय का एक उदाहरण हैं। वर्ण-ध्वनियों की विविक्तता,उच्चारण की विलम्बित लय,स्वरों और व्यंजनों की श्लक्ष्ण,प्रखर ध्वनि, समासों की संश्लिष्ट शृंखला आदि संस्कृत भाषा की रूपगत विशेषताएँ हैं। धम्म,कम्म,अज्ज आदि द्वित्व ध्वनियाँ पालि भाषा के ध्वनिगत

रूप के उदाहरण हैं। पदान्त के अकार की स्थिति विलम्बित ध्वनि भोजपुरी की विशेषता है। ट वर्ग का लोप यूरोप की अर्वाचीन महाद्वीपीय भाषाओं की सामान्य विशेषता है जो त वर्ग के लोप से युक्त द्वीपीय अंग्रेजी से उन्हें पृथक करती है। ज़कार,फ़कार की ध्वनियाँ संस्कृत में नहीं हैं। अनेक यूरोपीय भाषाओं में अपनी ध्वनि संबंधी विशेषताएँ हैं। उनको उन भाषाओं के ध्वनि रूप का विशेष अतिशय मानना होगा। ये विशेषताएँ अन्ततः सांस्कृतिक बन गई हैं।

लिपि की भी कुछ विशेषताएँ होती हैं। वह ध्वनि की तुलना में अधिक सांस्कृतिक है। ध्वनि-विशेषताओं पर जलवायु का प्रभाव हो सकता है। लिपि में संकल्प की स्वतंत्रता का अवकाश अधिक होता है। वर्तुल और चतुष्कोण वर्ण तथा शिरोरेखा देवनागरी की विशेषताएँ हैं। मात्राएँ भारतीय लिपि का सामान्य लक्षण हैं। स्वर-ध्वनियों का स्वतंत्र वर्णाकृतियों में प्रयोग यूरोपीय भाषाओं की विशेषता है जो मुद्रण युग में एक अतुलनीय सुविधा बन गई है।

ध्वनि व लिपि की विशेषताएँ भाषाओं के रूप की विशेषताएँ हैं। प्राकृतिक जलवायु के प्रभाव के अतिरिक्त इन विशेषताओं में सांस्कृतिक संकल्प की स्वतंत्रता का भी योग है। इसलिए इन विशेषताओं को सांस्कृतिक मानना उचित है। प्रत्येक भाषा में इन विशेषताओं के अनेक रूप मिलते हैं। ये अनेक रूप प्रत्येक भाषा की समान्य एवं व्यापक आत्मा से प्रेरित और पोषित होते हैं।

भावों के विशेष अतिशय भाषाओं में समाज के सांस्कृतिक जीवन और दृष्टिकोण की विशेषताओं से प्रस्फुटित होते हैं। वर्ण-ध्वनियों की विविक्तता,वर्णों की शब्दों के समान सार्थकता,सार्थक वर्णों के योग से तथा शब्द-बीजों से योगिक शब्दों का निर्माण,समास योजना आदि संस्कृत भाषा की सामान्य,व्यापक विशेषताएँ कही जा सकती हैं जो संस्कृत को अन्य भाषाओं से पृथक करती हैं। संज्ञा,क्रिया, विशेषण आदि में सांस्कृतिक विशेषताएँ विभिन्न भाषाओं में मिलेंगी। जैसे करने या उत्पन्न करने के अर्थ में **क** के योग से जनक,पालक,रक्षक,भक्षक,शिक्षक तथा दानवाचक **द** के योग से जलद,धनद,वारिद जैसे अनेक शब्दों का निर्माण संस्कृत भाषा की विशेषता है। ह्रस्व स्वर-ध्वनियों से युक्त तथा ह्रस्वान्त शब्दों की संस्कृत भाषा में बहुलता का उल्लेख एक सांस्कृतिक विशेषता के रूप में किया जा सकता है।

स्पष्ट और उच्चारण में अलोप्य ध्वनियाँ,क्रिया में लिंग का न होना,विशेषण

में लिंग की संज्ञा के साथ अनुरूपता,संयुक्त व्यंजनों की विपुलता संस्कृत भाषा की विशेषताएँ हैं। ब्रज व अवधी के तद्भव शब्दों में संयुक्त व्यंजन पृथक होते हैं जैसे धरम,करम आदि। श,व ध्वनियाँ ब्रज भाषा में लुप्त हो गईं। भाषाओं में शब्दों का अनुग्रहण तो हुआ है फिर भी सब भाषाओं की अपनी प्रकृति व संस्कृति है जिसके अनुसार शब्दों की ध्वनियों में रूपान्तर होता है। भाषा का सामान्य स्वरूप अपनी प्रकृति और संस्कृति की विशेषताओं से पहचाना जाता है तथा भाषाओं में परस्पर भेद उन्हीं के आधार पर होता है। उर्दू व हिन्दी के उन शब्दों मे जो तत्सम नहीं हैं **ने** व **मैं** विभक्तियों के साथ आकार का एकार होता है जैसे लड़के ने कहा,कमरे में जाओ। तत्सम शब्दों में ये परिवर्तन नहीं होता है जैसे वक्ता ने कहा आदि।

क्रिया में लिंग-भेद हिंदी व उर्दू भाषाओं की निराली विशेषता है जो शायद ही किसी भाषा में मिलेगी। इसका मूल बीज तो उत्तर भारत के पुरुष समाज की निष्क्रियता में है,जिसके कारण संस्कृत के गच्छति,गच्छन्ति क्रियारूपों के अनुरूप जाती,जातीं क्रियाओं का प्रयोग कर्मशीला स्त्रियों के लिए होने लगा। भाषा का अभ्युदय सामाजिक व्यवहार में होता है। व्यवहार के साथ शिष्टाचार भी विकसित होते हैं और भाषा की संस्कृति में समवेत हो जाते हैं। शिष्टाचार का अवसर द्वितीय पुरुष में भाषा की संस्कृति का विशेष रूप मिलता है। संस्कृत में हिन्दी के तू का समानार्थक संबोधन नहीं है। **त्वम्** तुम का मूल है। हिन्दी के **आप** के लिए **मान्** का प्रयोग होता है। अधिक आदर हेतु **अत्रभवान्,तत्रभवान्** का प्रयोग होता है। अन्यपुरुष को प्रथम पुरुष का स्थान दिया है जो अन्य पुरुष के लिए आदर का प्रमाण है। पूज्यों के लिए बहुवचन का व्यवहार होने से संस्कृत श्रद्धामयी भाषा है।

देश,काल,जलवायु,जातिगत संस्कार,प्रयत्न,परम्परा आदि अनेक तत्वों के प्रभाव से सभी भाषाओं का रूप अलग-अलग सांचे में ढला है। इन प्रभावों से उन भाषाओं की ध्वनियों,उनके उच्चारणों,शब्द-विधान,व्याकरण,वाक्य-विधान आदि में ऐसे संस्कार विकसित हुए हैं जिनसे एक भाषा पहचानी जाती है। ध्वनियों की दृष्टि से विभिन्न भाषाओं में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। शब्दों के संस्कार, इतिहास, भाव आदि भिन्न हैं। इन विशेषताओं को एक भाषा की संस्कृति कहा जा सकता है। संस्कृति की रचना मनुष्य के संकल्प के द्वारा रूप व भाव के अतिशयों से होती है। भाषा की इन विशेषताओं का सन्निधान

भी भाषा में बहुत कुछ मानव संकल्प,परम्परा आदि के द्वारा तथा रूप व भाव के अतिशय के रूप में होता है। प्राकृतिक कारण संस्कृति की भूमिका और उसके उपादान व उपकरण के रूप में अवश्य योग देते हैं किन्तु अपने समग्र रूप में भाषा मनुष्य की एक सांस्कृतिक उपलब्धि है। इस कारण ही विभिन्न भाषाओं के विशेष लक्षण एक-दूसरे से भिन्न हैं। सांस्कृतिक विशेषताएँ अनेक रूपों में एक भाषा का अलंकरण करती हैं। संस्कृति के रूपों और भावों में भाषा की आत्मा भी अलक्षित रूप में व्याप्त रहती है जिसका विवरण कठिन है। भाषाएँ परस्पर प्रभावित होती हैं। इनमें शब्द-संचार व अनुग्रहण भी हुआ है किन्तु मूल भाषा की मौलिक आत्मा व संस्कृति नष्ट नहीं हुई व कालक्रम से कुछ बदलकर वह जीवित रहने का प्रयत्न करती रही है।

भाषाओं के अध्ययन और विकास में उनकी आत्मा एवं संस्कृति का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। भाषा की संस्कृति के अनुसार भाषा के अध्ययन की अनेक समस्याओं का विवेचन,भ्रान्तियों व भूलों से बचा पायेगा। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भाषाओं का अध्ययन भाषाओं के अनेक विशेष स्वरूप व संस्कार के साथ अधिक न्याय करता है। भाषा एक सांस्कृतिक रचना व उपलब्धि है। भाषाओं के विकास में भी संस्कृति का अद्वितीय योगदान है अत: सांस्कृतिक दृष्टि से उनका अध्ययन अधिक संगत व उपयुक्त है।

भाषाओं का विकास भी अपनी मौलिक आत्मा की शक्ति एवं अपने मूल संस्कारों के अनुसार हुआ है। इसी कारण विभिन्न भाषाएँ अपने-अपने रूपों मे विकसित हुई हैं। अर्वाचीन यूरोपीय भाषाएँ तथा खड़ी बोली हिन्दी को छोड़कर अन्य अर्वाचीन भाषाएँ इसका उदाहरण हैं। खड़ी बोली हिन्दी के विकास की कहानी भिन्न है। खड़ी बोली हिन्दी भारत में उसी प्रकार फैली जिस प्रकार अंग्रेजी संसार में फैली किन्तु इसके जन्म स्थान में इसका समुचित विकास नहीं हुआ जैसा अंग्रेजी का हुआ। इसका विकास आत्मा की मौलिक शक्ति से अपनी मूल संस्कृति के संस्कारों के अनुरूप नहीं हुआ। यह बिना मूल की अमरबेल के समान फैली है। अपने मूल स्वरूप में खड़ी बोली हिन्दी में कोई विचारात्मक साहित्य नहीं रचा गया। ब्रज से यह निकटता के कारण प्रभावित है। इसमें भी कोई विचारात्मक साहित्य न था। हिन्दी की कोई भी उपभाषा विचार का माध्यम न बन सकी। इस कारण इनका विकास नहीं हो सका। आधुनिक खड़ी बोली अनेक बाहरी प्रभावों से आक्रान्त है। संस्कृत आदि से अनुग्रहण ही

इसके विकास का एक मार्ग है। भारत का इतिहास जितना विडम्बनापूर्ण है उतनी ही विडम्बनापूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा के विकास की कहानी है। मौलिक संस्कृत की आत्मा में वह अपनी आत्मा खोज रही है तथा संकरित संस्कारों में वह अपनी संस्कृति की दिशा का अनुसंधान करने में दिग्भ्रान्त हो रही है।

सहायक ग्रंथ सूची

1.	भाषा-विज्ञान	:	डॉ.भोलानाथ तिवारी
2.	भाषा-विज्ञान	:	डॉ.धीरेन्द्र वर्मा
3.	भाषा-विज्ञान	:	बाबूराम सक्सेंना
4.	भाषा-विज्ञान	:	बाबूराम त्रिपाठी
5.	हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	:	गुणानन्द जुयाल
6.	हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास	:	गुणानन्द जुयाल
7.	प्राचीन हिन्दी भाषा	:	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
8.	विचार-कण	:	डॉ.सरनाम सिंह अरुण
9.	भाव-कण	:	डॉ.सरनाम सिंह अरुण
10.	सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान	:	डॉ.रामानन्द तिवारी
11.	हिन्दी वर्तनी और व्याकरण	:	डॉ. हरदेव बाहरी
12.	हिन्दी भाषा का इतिहास	:	डॉ.भोलानाथ तिवारी
13.	प्राचीन लिपिमाला	:	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
14.	हिन्दी वर्तनी का विकास	:	अनीता गुप्ता
15.	हिन्दी व्याकरण	:	कामता प्रसाद गुरु
16.	हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास	:	उदयनारायण तिवारी
17.	हिन्दी भाषा-1966	:	डॉ.भोलानाथ तिवारी
18.	हिन्दी भाषा की संरचना	:	डॉ.भोलानाथ तिवारी
19.	हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ	:	डॉ.भोलानाथ तिवारी
20.	हिन्दी भाषा	:	श्यामसुन्दर दास
21.	हिन्दी भाषा का इतिहास	:	डॉ.धीरेन्द्र वर्मा

22. सम्पर्क भाषा हिन्दी	:	भोलानाथ तिवारी एवं कमल सिंह
23. हिन्दी : कुछ नई चुनौतियाँ	:	डॉ.कैलाशनाथ पाण्डेय
24. भाषा-विज्ञान का अनुशीलन	:	डॉ.कैलाशनाथ पाण्डेय
25. भाषा-विज्ञान का रसायन	:	डॉ.कैलाशनाथ पाण्डेय
26. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी	:	डॉ.सुनीति कुमार चटर्जी
27. हिन्दी साहित्य का इतिहास	:	डॉ. राजबली पाण्डेय
28. हिन्दी : उद्भव,विकास और रूप	:	डॉ.हरदेव बाहरी
29. भारतीय साहित्य की भूमिका	:	डॉ. रामविलास शर्मा
30. भाषा-शास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा	:	डॉ.देवेन्द्र कुमार शास्त्री
31. भाषा	:	डॉ.राममनोहर लोहिया
32. वैविध्यपूर्ण भाषा-विज्ञान	:	कन्हैयालाल शर्मा
33. भाषा-विज्ञान की भूमिका	:	डॉ.रामचरण महेन्द्र

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आजकल	:	सं.नरेन्द्र सिंन्हा
2. इण्डिया टुडे	:	सं.अरुण पुरी
3. कादम्बिनी	:	सं.राजेन्द्र अवस्थी
4. दिनमान	:	सं.कन्हैयालाल नन्दन
5. जनसत्ता	:	सं.सुभाष जोशी
6. ओर	:	विजेन्द्र
7. वातायन	:	हरीश भादानी
8. ब्रज शतदल	:	सं.राजस्थान ब्रजभाषा अकादमी
9. मधुमती	:	राजस्थान साहित्य अकादमी,उदयपुर
10.प्राग् ज्योति	:	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से प्रकाशित